# महावीर वर्धमान

लेखक

जगदीशचन्द्र जैन

एम्० ए०, पी०-एच० डी०

प्रकाशक
विश्ववाणी कार्यालय
इलाहाबाद

मूल्य १।)

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

**अपने बड़े भाई**

**को**

जिन्हों ने मुझे इस योग्य बनाने

के लिये सब कुछ किया

परन्तु जिन के लिये

मैं कुछ न कर

पाया
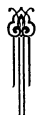
# ग्रन्थ के बारे में

जिन कुछ पुस्तकों की हिन्दी को बहुत आवश्यकता रही है उन में एक है महावीर वर्धमान। डॉ० जगदीशचन्द्र जी की इस कृति को पढ़कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। बौद्ध-ग्रन्थों मे भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित्र के बारे मे सामग्री की कमी नही, लेकिन वही बात जैन-ग्रन्थों और महावीर वर्धमान के बारे में नही कही जा सकती। डॉ० जगदीशचन्द्र जी ने अपने इस ग्रन्थ की सामग्री के लिये बौद्ध त्रिपिटक और जैन-सूत्रों को समान-रूप से दुहा है; और उन मे से जो भी सामग्री मिली है, उसी के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की है।

मुझे यह स्वीकार करते हर्ष होता है कि लेखक ने इस ग्रन्थ को शास्त्रीय दृष्टि से अधिक-अधिक प्रामाणिक बनाने की चेष्टा की है और वे उस में सफल हुए हैं।

किन्तु, इस ग्रन्थ की विशेषता तो यह है कि इस में महावीर वर्धमान के जीवन और उन की शिक्षाओं को एक नई दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया गया है। दृष्टि इतनी आधुनिक है कि जो लोग महावीर वर्धमान के जीवन को परम्परागत दृष्टि से देखने के अभ्यासी हैं, उन्हे वह खटकेगी ही नही चुभेगी भी। तो भी मै आशा करता हूँ कि आज का हिन्दी का पाठक इस पुस्तक को चाव से पढ़ेगा और महावीर वर्धमान की जिन शिक्षाओं को डॉ० साहब ने ऐसे समयोपयोगी तथा समाजोपयोगी ढंग से पेश किया है, उन्हें हृदयङ्गम करने का प्रयत्न करेगा।

पुस्तक लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत है अतः मैं इस का प्रचार चाहता हूँ।

**लोकमान्य मन्दिर**
**पुणें**
**ता० १०-११-४५**

**आनन्द कौसल्यायन**

# प्रास्ताविक निवेदन

सन् १९४२ के अगस्त आन्दोलन में जेल से लौटने के पश्चात् मेरे विचारों में काफ़ी क्रान्ति हो चुकी थी। मैंने सोचा कि महावीर के विषय में लिखने का इस से बढ़कर और कौनसा सुअवसर होगा। परन्तु मेरी पी-एच० डी० की थीसिस का काम बीच में पड़ा हुआ था। मित्रों के आग्रह पर मैंने उसे पूर्ण करने की ठानी। ज्यों-त्यों करके इस महाभारत कार्य को मैं गत दिसंबर में समाप्त कर सका, उसी समय से मैं इस कार्य को हाथ में लेने का विचार कर रहा था। गत महीने में मुझे अपने कुछ मित्रों के साथ बंबई के मिल-मज़दूरों की चालें (घर) देखने का मौक़ा मिला, जिस से मुझे इस पुस्तक को लिखने की विशेष प्रेरणा मिली।

दुर्भाग्य से जितनी सामग्री बुद्ध के विषय में उपलब्ध होती है उतनी महावीर के विषय में नहीं होती, जिसका मुख्य कारण है सम्राट् मौर्य चन्द्र-गुप्त के समय पाटलिपुत्र (पटना) में दुर्भिक्ष पड़ने के कारण अधिकांश जैन साहित्य का विच्छेद। महावीर के जीवन-विषयक सामग्री दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं के बराबर है, तथा श्वेताम्बरों के आचारांग आदि प्राचीन ग्रंथों में जो कुछ है वह बहुत अल्प है। इस पुस्तक में श्वेतांबर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों का निष्पक्ष रूप से उपयोग किया गया है, और यह ध्यान रक्खा गया है कि यह पुस्तक दोनों सम्प्रदायों के लिये उपयोगी हो। महावीर के जीवन की अलौकिक घटनाओं को छोड़ दिया गया है। कुछ लोगों का मानना है कि महावीर का धर्म आत्मप्रधान धर्म था तथा उनकी अहिंसा वैयक्तिक अहिंसा थी, अतएव उनके धर्म को लौकिक या सामू-हिक रूप नहीं दिया जा सकता, परन्तु मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ। बुद्ध की तरह महावीर ने भी संघ की स्थापना की थी और उन्हों ने अपने

शिष्यों को चारों दिशाओं में धर्मप्रचार के लिये भेजा था। बृहत्कल्प सूत्र (१.५०) में उल्लेख है कि महावीर ने जैन श्रमणों को साकेत (अयोध्या) के पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशांबी तक, पश्चिम में स्थूणा (स्थानेश्वर) तक तथा उत्तर में कुणाला (उत्तर कोशल) तक विहार करने का आदेश दिया था। स्वयं महावीर घूम-फिरकर जनता को धर्म का उपदेश देते थे। यदि महावीर का धर्म केवल वैयक्तिक होता तो उसका प्रचार सामूहिकरूप से कभी नहीं हो सकता था। यह बात दूसरी है कि महावीर और बुद्ध के युग की समस्यायें हमारी आधुनिक समस्याओं से भिन्न थी, परन्तु हम इन महान् पुरुषों के उपदेशों को अपने देश की आधुनिक समस्याओं के हल करने में उपयोगी बना सकते हैं, इस में कोई भी सन्देह नहीं।

यह पुस्तक लिखे जाने के बाद मैंने इसे अपने कई आदरणीय मित्रों को पढ़कर सुनाई, जिन में डाक्टर नारायण विष्णु जोशी, एम० ए०, डि-लिट्०, पं० नाथूराम जी प्रेमी, पं० सुखलाल जी, डाक्टर मोतीचन्द जी एम० ए०, पी-एच० डी०, साहू श्रेयांसप्रसाद जी जैन, मेरी पत्नी सौ० कमलश्री जैन आदि के नाम मुख्य हैं। इन कृपालु मित्रों ने जो इस पुस्तक के विषय में अपनी बहुमूल्य सूचनायें दी हैं, उन का मैं आभारी हूँ। विशेषकर डा० नारायण विष्णु जोशी, साहू श्रेयांसप्रसाद जी जैन तथा सौ० कमलश्री जैन का इस पुस्तक के लिखे जाने में विशेष हाथ है, अतएव मैं इन मित्रों का कृतज्ञ हूँ। श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी ने जो इस पुस्तक के विषय में दो शब्द लिखने की कृपा की है, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ। लॉ जर्नल प्रेस के मैनेजर श्री कृष्णप्रसाद दर ने इस पुस्तक की छपाई आदि का काम अपनी निजी देखरेख में कराया है, अतएव वे धन्यवाद के पात्र हैं।

**शिवाजी पार्क, बंबई**
**५–६–४५**

जगदीशचन्द्र जैन

# विषय-सूची

# १ महावीर वर्धमान का जन्म

महावीर वर्धमान की जन्मभूमि विदेह देश की राजधानी वैशाली (बसाढ़) नगरी का प्राचीन काल में बड़ा महत्त्व था। यह वज्जियों[1] (लिच्छवियों) की प्रधान नगरी थी; यहाँ गणसत्ताक राज्य था और यहाँ की राज्य-व्यवस्था प्रत्येक गण के चुने हुए नायकों के सुपुर्द थी, जो 'गणराजा' कहे जाते थे। राजा यहाँ नाम-मात्र का होता था और वह राज्य के कार्य सदा गणराजाओं की सम्मतिपूर्वक करता था। वैशाली के रहनेवाले वज्जियों में बड़ा भारी संगठन था और वे जो काम करते एक होकर करते थे। यदि कोई लिच्छवि बीमार हो जाता तो सब लिच्छवि उसे देखने जाते थे, एक के घर उत्सव होता तो सब उस में सम्मिलित होते थे, तथा यदि उनके नगर में कोई साधु-संत आता तो सब मिलकर उसका स्वागत करते थे।[2] एक बार जब मगध के राजा अजातशत्रु (कूणिक) ने वज्जियों पर चढ़ाई करने का इरादा किया तो बुद्ध ने कहा था कि जब तक वज्जी लोग आपस में मिलकर अपनी बैठकें करते हैं, सब मिलकर किसी बात का निर्णयकर अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं, कोई ग़ैरक़ानूनी काम नहीं करते, वृद्धों की बात मानते हैं, स्त्रियों का अनादर नहीं करते, चैत्यों (देवस्थान) की पूजा करते हैं, तथा अर्हतों–साधु-संतों–का सम्मान करते हैं, तब तक कोई उनका बाल बाँका नही कर सकता[3]। लिच्छवि लोग अपनी संघ-

---

[1] **वज्जी देश में आजकल के चम्पारन और मुज़फ़्फ़रपुर, दरभंगा तथा छपरा ज़िले के भाग सम्मिलित थे**

[2] **दीघनिकाय अट्ठकथा २, ५१९.**

[3] **दीघनिकाय, महावग्ग, महापरिनिब्बाण सुत्त**

व्यवस्था के लिये, गणतंत्र राज्य के लिये प्रसिद्ध थे, और इसीलिये बुद्ध ने भिक्षु-संघ के सामने लिच्छवि गणतंत्र को आदर्श की तरह पेश किया था, तथा भिक्षु-संघ के छंद (वोट) देने तथा अन्य प्रबन्धों की व्यवस्था में लिच्छवि गणतंत्र का अनुकरण किया था। जैन शास्त्रों के अनुसार चेटक वैशाली का बलशाली शासक था, जो काशी-कोशल के नौ लिच्छवि और मल्ल राजाओं का अधिनायक था। चेटक श्रावक (जैनधर्म का उपासक) था और उस की सात कन्यायें थी। इन में से उस ने प्रभावती का विवाह वीतिभय के राजा उद्रायण के साथ, पद्मावती का कौशांबी के राजा शतानीक के साथ, शिवा का उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के साथ, ज्येष्ठा का कुण्डग्रामीय महावीर के भ्राता नन्दिवर्धन के साथ, तथा चेलना का राजगृह के राजा श्रेणिक के साथ किया था; सुज्येष्ठा अविवाहिता थी और उसने दीक्षा ग्रहण कर ली थी। चेटक की बहन त्रिशला का विवाह कुण्डपुर के गण-राजा सिद्धार्थ से हुआ था। चम्पा के राजा कूणिक और चेटक के महायुद्ध का वर्णन जैन ग्रन्थों में आता है जिस मे लाखों योद्धाओं का रक्त बहाया गया था।[४] बौद्धधर्म में भी वैशाली का बड़ा गौरव है। यहीं बुद्ध ने स्त्रियों को भिक्षुणी बनने का अधिकार दिया था और यही उन्हों ने अपना अन्तिम चौमासा व्यतीत किया था। महावीर के वैशाली में बारह चातुर्मास बिताये जाने का उल्लेख कल्पसूत्र में आता है।

वज्जी देश के शासक लिच्छवियों के नौ गण थे। इन्ही का एक भेद था ज्ञातृ[५] जिस में स्वनाम-धन्य वर्धमान का जन्म हुआ था। वैशाली में गंडकी (गंडक) नदी बहती थी जिस के तट पर क्षत्रिय-कुण्डग्राम और ब्राह्मण-

---

[४] आवश्यक चूर्णि २, पृ० १६४ इत्यादि। दिगंबर मान्यता के अनुसार चेटक की पुत्रियों आदि के नाम जुदा हैं

[५] संभवतः बिहार में भूमिहारों की जथरिया जाति (राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबंधावलि, पृ० १०७-११४)

कुण्डग्राम नामक वैशाली के दो सुन्दर उपनगर अवस्थित थे; वर्धमान ने क्षत्रिय-कुण्डग्राम को अपने जन्म से पवित्र किया था। वर्धमान के पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का त्रिशला था; दोनों पार्श्वनाथ की श्रमणपरंपरा के अनुयायी थे। जिस रात्रि को वर्धमान त्रिशला के गर्भ में अवतरित हुए त्रिशला ने चौदह स्वप्न देखे, जिन्हें सुनकर अष्टांग निमित्त जाननेवाले स्वप्नशास्त्र के पंडितों ने बताया कि सिद्धार्थ के घर शूरवीर पुत्र का जन्म होगा जो अपनी यशःकीर्ति से संसार को उज्वलकर जन-समाज का कल्याण करेगा।

नौ महीने साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर त्रिशला देवी ने प्रियदर्शन सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म का समाचार पाकर सिद्धार्थ की ख़ुशी का ठिकाना न रहा। कारागृहों से क़ैदी छोड़ दिये गये, चीज़ों के दाम घटा दिये गये, नगर की चारों ओर से सफ़ाई कर जगह जगह सुगंधित जल का छिड़काव किया गया, सड़कें, चौराहे, गली, कूचे ख़ूब सजाये गये, लोगों के बैठने के लिये गैलरियाँ बनाई गई, ध्वजायें फहराई गई, चूना पोतकर मकान श्वेत-स्वच्छ बना दिये गये, जगह जगह पाँच उँगलियों के थापे लगाये गये, चंदन-कलश रक्खे गये, द्वारों में तोरण बाँधे गये, धूपबत्तियाँ जलाई गई; कहीं नट-नर्तकों का नाच हो रहा है, कहीं रस्सी का खेल हो रहा है, कहीं मुष्टियुद्ध हो रहा है, कही विदूषक हँसी-ठट्ठा कर रहे हैं, कहीं कथायें हो रही हैं, स्तोत्र पढ़े जा रहे हैं, रास गाये जा रहे हैं, और कहीं नाना वाद्य बज रहे हैं। इस प्रकार क्षत्रिय-कुण्डग्राम में दस दिन तक अपूर्व समारोह मनाया गया; दस दिन तक कर माफ़ कर दिया गया, प्रत्येक वस्तु बिना मूल्य बिकने लगी, राज-कर्मचारियों का ज़बर्दस्ती से गृहप्रवेश रोक दिया गया, ऋण माफ़ कर दिया गया, जगह जगह गणिकाओं के नृत्य हुए, वादित्रों की झंकार से नगर गूंज उठा, श्रमण-ब्राह्मणों को दान-मान से सम्मानित किया गया, आनन्द और उत्साह की सीमा न रही, नगरी के सब लोग आनन्द-मग्न हो उठे।

नवजात शिशु के जातकर्म आदि संस्कार किये गये, और ग्यारहवें दिन सूतक मनाने के पश्चात्, बारहवें दिन मित्र, जाति, स्वजन, संबंधियों को निमंत्रितकर विपुल भोजन, पान, तांबूल, वस्त्र, अलंकार आदि से उन का सत्कार किया गया। तत्पश्चात् सिद्धार्थ क्षत्रिय ने उठकर सब के समक्ष कहा, "भाइयो ! इस बालक के जन्म से हमारे कुल में धन, धान्य, कोष, कोठार, सेना, घोड़े, गाड़ी आदि की वृद्धि हुई है अतएव बालक का नाम वर्धमान रखना ठीक होगा।" सब ने इस का अनुमोदन किया। तत्पश्चात् अनेक दाइयों और नौकर-चाकरों से परिवेष्टित होकर वर्धमान बड़े लाड़-प्यार से पाले गये और सुरक्षित चंपक वृक्ष के समान बड़े होने लगे।

वर्धमान बचपन से ही बड़े वीर, धीर और गंभीर प्रकृति के थे, और वे कभी किसी से डरते न थे। एक बार वर्धमान अपने साथियों के साथ एक वृक्ष के पास खेल रहे थे। इतने में उन के साथियों ने देखा कि वृक्ष की जड़ में लिपटा हुआ एक विकराल सर्प फुंकार मार रहा है। यह देखकर वर्धमान के साथी वहाँ से डर के मारे भाग गये, परन्तु वीर वर्धमान अचल भाव से वहीं डटे रहे और उन्हों ने सर्प को अपने हाथ से पकड़कर दूर फेंक दिया। संभवतः इसी प्रकार के अन्य संकटों के समय अपनी दृढ़ता और निर्भयता प्रदर्शित करने के कारण वर्धमान महावीर कहे जाने लगे। वर्धमान अध्ययन के लिये पाठशाला में गये जहाँ उन्हों ने अपनी असाधारण बुद्धि का परिचय दिया। वर्धमान के अध्यापक उन के विद्वत्तापूर्ण उत्तरों से चकित होकर उन की भूरि भूरि प्रशंसा करते थे। वर्धमान ने छोटी उमर में ही व्याकरण, साहित्य आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। महावीर तीस वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे और उन्हों ने अनेक प्रकार के भोगों का सेवन किया।[६] क्षत्रियकुमार होने के कारण महावीर बहुत सुखों में

---

[६] दिगंबर मान्यता के अनुसार महावीर अविवाहित रहे

पले थे; उन्हें सोना-चाँदी, धन-धान्य, दासी-दास आदि भोगोपभोग-सम्पदा की कोई कमी न थी।[७]

# २ तत्कालीन परिस्थिति और महावीर की दीक्षा

भारतीय इतिहास में ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति नाम की दो अत्यन्त प्राचीन परंपरायें दृष्टिगोचर होती हैं। ब्राह्मण लोग वेदों को ईश्वरीय वाक्य मानते थे, इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवों की पूजा करते थे, यज्ञ में पशुबलि देकर उस से सिद्धि मानते थे, चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था स्वीकारकर अपनी जाति को सर्वोत्कृष्ट समझते थे, तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी इन चार आश्रमों को स्वीकार करते थे। श्रमण लोग इन बातों का विरोध करते थे; वे संन्यास, आत्मचिन्तन,[८] संयम, समभाव,[९] तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन आदि के ऊपर भार देते थे,[१०] और आत्मशुद्धि को प्रधान मानते थे। श्रमण-परंपरा में यज्ञ-याग आदि कर्मकाण्ड का स्थान आत्मविद्या को मिला था,[११] और वह क्षत्रियों की विद्या मानी जाती थी।[१२] उपनिषदों में कहा है कि ब्राह्मण लोग ब्रह्म को जानकर पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा, और लौकिक इच्छाओं से निवृत्त होकर भिक्षा-वृत्ति का आचरण करते हैं।[१३] महाभारत में, जो श्रमण-परंपरा के प्रभाव से काफ़ी प्रभावित है,

---

[७] कल्पसूत्र ३२–१०८

[८] आपस्तंब २.६.२१.११–१४

[९] गौतमधर्म ३.१२–१४

[१०] छान्दोग्य उपनिषद् ३.१७.४

[११] केन १.३

[१२] बृहदारण्यक ४.२–३; छान्दोग्य ५.११; ५.३.७

[१३] बृहदारण्यक ३.५

तप का प्राधान्य बताते हुए तप को समस्त धर्मों का मूल और सब पापों का नाश करनेवाला कहा गया है।[१४] यहाँ अहिंसा और त्याग की पराकाष्ठा-द्योतक अनेक उपाख्यान रचे गये हैं,[१५] और पशुयज्ञ के स्थान पर शान्तियज्ञ (इन्द्रिय-निग्रह), ब्रह्मयज्ञ, वाग्यज्ञ, मनोयज्ञ और कर्मयज्ञ का महत्त्व स्वीकार किया गया है।[१६] तुलाधार-जाजलि संवाद में कहा है कि सर्वभूतहित तथा इष्टानिष्ट और राग-द्वेष का त्याग ही सच्चा धर्म है तथा अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ है।[१७] याज्ञवल्क्य, जनक, पार्श्वनाथ आदि संत-पुरुषों ने इसी श्रमण-परंपरा में जन्म लिया था। वेदकाल से चली आनेवाली श्रमणसंस्कृति की इन विचार-धाराओं का मंथन महावीर ने गंभीरतापूर्वक किया था, उन के जीवन पर इन धाराओं का गहरा प्रभाव पड़ा था और उस में से उन्हों ने अपना मार्ग खोजकर निकाला था। उन्हों ने देखा कि धर्म के नाम पर कितना आडंबर रचा जा रहा है, यज्ञ-याग आदि को धर्म मानकर उन में मूक पशुओं की बलि दी जा रही है, देवी-देवताओं के नाम पर कितना अंधविश्वास फैला हुआ है, तथा सब से दयनीय दशा है स्त्री और शूद्रों की जिन्हे वेदादि-पठन का अधिकार नही, तथा वेदध्वनि शूद्र तक पहुँच जाने पर उस के कानों में सीसा और लाख भर दिये जाते हैं, वेदोच्चारण करने पर उस की जिह्वा काट ली जाती है, वेदमंत्र याद करने पर उस के शरीर के दो टुकड़े कर दिये जाते हैं;[१८] शूद्रान्न भक्षण करने से गाँव मे सूअर का जन्म लेना पड़ता है,[१९] यहाँ तक कि

---

[१४] **शान्तिपर्व १५९**

[१५] **वही, कपोत और व्याध का उपाख्यान १४३–८**

[१६] **वही, १५९**

[१७] **वही, २६८–२७१**

[१८] **गौतमधर्म सूत्र १२.४–६**

[१९] **वसिष्ठधर्म सूत्र ६.२७**

शूद्रदर्शन-जन्य आँखों की अपवित्रता दूर करने के लिए उन्हें धोना पड़ता है।[२०] महावीर ने देखा कि सर्वत्र अज्ञान ही अज्ञान फैला हुआ है और लोग अपनी विषयवासना तृप्त करने के लिये, अपने सुख के लिये दूसरे जीवों की हिंसा कर रहे हैं, उन्हे कष्ट पहुँचा रहे हैं, जिस से सब जगह दुख ही दुख फैला हुआ है। यह देखकर महावीर का कोमल हृदय द्रवित हो उठा, उन के विचारों में उथल-पुथल मच गई और उन्हों ने दृढ़ निश्चय किया कि कुछ भी हो मुझे जग का कल्याण करना है, उस में सुख, शान्ति और समता-भाव फैलाना है, तथा उस के लिये सर्वप्रथम आत्मबल प्राप्त करना है।

महावीर ने एक से एक सुन्दर नाक के श्वास से उड़ जानेवाले, नवनीत के समान कोमल वस्त्रों का त्याग किया; हार, अर्धहार, कटिसूत्र, कुंडल आदि आभरणों को उतारकर फेंक दिया, एक से एक स्वादिष्ट भोजन, पान आदि को सदा के लिये तिलांजलि दे दी, अपने मित्र छोड़े, बंधु छोड़े, विपुल धन, सुवर्ण, रत्न, मणि, मुक्ता आदि सब कुछ छोड़ा, और स्वजन-संबंधियों की अनुमतिपूर्वक क्षत्रिय-कुण्डग्राम के बाहर ज्ञातृ-षण्ड नामक उद्यान में जाकर पंचमुष्टि से केशों का लोचकर श्रमणत्व की दीक्षा ग्रहण की। महावीर ने निश्चय किया कि चाहे कितनी ही विघ्न-बाधायें क्यों न आयें तथा कितने ही घोर उपसर्ग और संकट क्यों न उपस्थित हों, परन्तु मैं सब का धीरतापूर्वक सामना करता हुआ सब को शान्तभाव से, क्षमाभाव से सहन करूँगा, और अपने नियम में अटल रहूँगा—अपने निश्चय से न डिगूँगा।

---

[२०] **चित्तसंभूत जातक (नं० ४९८), पृ० १९१**

# ३ दीक्षा के पश्चात्–घोर उपसर्ग

महावीर दीक्षित होकर––गृहत्याग कर––जगत् का कल्याण करने के लिये निकल पड़े। उन्हें भयंकर से भयंकर कष्टों का सामना करना पड़ा, परन्तु एक वीर योद्धा की तरह वे अपने कर्त्तव्यपथ से कभी विचलित न हुए। उन्हें नग्न और मलिनतनु देखकर छोटे छोटे बालक डर जाते और उन के शरीर पर धूल, पत्थर आदि फेंककर शोर मचाते थे। कोई उन्हें कर्कश वचन कहता और कोई उन पर डंडों से आक्रमण करता था, परन्तु वीर वर्धमान समभाव से सब कुछ सहन करते थे। वे प्रायः मौन रहते और स्तुति और निन्दा में समभाव रखते थे। नृत्य-गीत तथा दण्ड-युद्ध और मुष्टियुद्ध में उन्हे कोई कुतूहल नहीं था, और न स्वैर कथाओं में उन्हें कोई रुचि थी। महावीर संयमधर्म का पालन करते थे; उन्हों ने शीत जल का त्याग कर दिया था और वे बीज तथा हरित आदि का सेवन न करते थे। वे निर्दोष आहार लेते तथा परवस्त्र और परपात्र का ग्रहण नहीं करते थे। भोजन-पान में उन्हे आसक्ति नहीं रह गई थी, तथा वे मात्रापूर्वक ही आहार करते थे। महावीर ने अपने शरीर को इतना साध लिया था कि खुजली आने पर भी वे खुजाते न थे तथा यदि उन के शरीर पर धूल आदि लग जाती तो वे उसे पोंछने की चेष्टा न करते थे। वे तिरछे तथा पीछे की ओर न देखते थे। श्रमणसिंह महावीर शून्यगृहों में, सभास्थानों में, प्याऊघरों में, बस्ती के बाहर लुहार और बढ़ई आदि की दुकानों में, तृणों के ढेर के समीप, मुसाफ़िरख़ानों में, उद्यानों में, स्मशान में तथा वृक्ष के नीचे एकान्तवास करते थे। इस प्रकार महावीर ने रात-दिन संयम में लगे रहकर, अप्रमादभाव से, शान्तभाव से तेरह वर्ष तक कठोर तपश्चरण किया। इतने दीर्घ काल तक हमारे चरित्रनायक कभी सुख की नींद नहीं सोये; जहाँ उन्हें ज़रा नींद आती वे फ़ौरन उठ बैठते और ध्यान में अवस्थित हो जाते, अथवा इधर-उधर चंक्रमण करने लगते थे।

जहाँ महावीर ठहरते वह स्थान अनेक प्रकार के भयंकर उपसर्गों से घिरा रहता। कहीं सर्प आदि जन्तुओं का उपद्रव, कहीं गीध आदि पक्षियों का उपद्रव, तथा कहीं चोर, बदमाश, गाँव के चौकीदार, और विषयलोलुपी स्त्री-पुरुषों का कष्ट। जिस शिशिर ऋतु में हिमवात बहने के कारण लोगों के दाँत कटकटाते थे, बड़े बड़े साधु-संन्यासी निर्वात निश्छिद्र स्थानों की खोज करते थे, वस्त्र धारणकर वे अपने शरीर की रक्षा करना चाहते थे, आग जलाकर अथवा कंबल आदि ओढ़कर शीत से बचना चाहते थे, उस समय श्रमणसिंह महावीर खुले स्थानों में अपनी दोनों भुजायें फैलाकर दुस्सह शीत को सहनकर अपनी कठोर साधना का परिचय देते हुए दृष्टिगोचर होते थे।

अपने तपस्वी जीवन में ज्ञातपुत्र महावीर ने दूर दूर तक भ्रमण किया और अनेक कष्ट सहे। वे बिहार मे राजगृह (राजगिर), चम्पा (भागलपुर), भद्दिया (मुँगेर), वैशाली (बसाढ़), मिथिला (जनकपुर) आदि प्रदेशों में घूमे, पूर्वीय संयुक्तप्रान्त में बनारस, कौशांबी (कोसम), अयोध्या, श्रावस्ति (सहेट महेट) आदि स्थलों में गये, तथा पश्चिमी बंगाल में लाढ़ (राढ़) आदि प्रदेशों में उन्हों ने परिभ्रमण किया। इन स्थानों में सब से अधिक कष्ट महावीर को लाढ़ देश में सहना पड़ा। यह देश अनार्य माना जाता था और संभवतः यहाँ धर्म का विशेष प्रचार न था, विशेषकर यहाँ के निवासी श्रमणधर्म के अत्यंत विरोधी थे, यही कारण है कि महावीर को यहाँ दुस्सह यातनायें सहन करनी पड़ीं। लाढ़ वज्रभूमि (बीरभूम) और शुभ्रभूमि (सिंहभूम) नामक दो प्रदेशों में विभक्त था। इन प्रदेशों की वसति (रहने का स्थान) अनेक उपसर्गों से परिपूर्ण थी। रूक्ष भोजन करने के कारण यहाँ के निवासी स्वभाव से क्रोधी थे और वे महावीर पर कुत्तों को छोड़ते थे। यहाँ बहुत कम लोग ऐसे थे जो इन कुत्तों को रोकते थे बल्कि लोग उल्टे दण्डप्रहार आदि से कुत्तों द्वारा महावीर को कष्ट पहुँचाते थे। वज्रभूमि के निवासी और भी कठोर थे। इस प्रदेश में कुत्तों के

भय से श्रमण लोग लाठी आदि लेकर विहार करते थे, परन्तु फिर भी वे उन के उपद्रव से नहीं बच सकते थे। इतना होने पर भी दीर्घ तपस्वी महावीर ने मन, वचन, काय से प्राणियों को कष्ट न पहुँचाते हुए, शरीर का ममत्व छोड़कर, संग्राम के अग्रभाग में युद्ध करते हुए निर्भय हाथी की तरह लाढ़ देश की दुर्जय परीषह सहन कीं। इस देश में ग्रामों की संख्या बहुत कम थी। जब महावीर किसी ग्राम में पहुँचते तो लोग उन्हे निकाल बाहर करते, अथवा दण्ड, मुष्टि, भाला, मिट्टी के ढेले और ठीकरों से उन्हें कष्ट पहुँचाते और शोर मचाते थे। ये लोग उनके शरीर में से मांस काट लेते और उन पर धूल फेंकते थे; उन्हें ऊपर उछालकर नीचे फेंक देते और उन्हें उन के गोदोहन, उकडूँ आदि आसनों से गिरा देते थे। कितनी बार महावीर को गुप्तचर समझकर, चोर समझकर पकड़ लिया गया, रस्सी से बाँध लिया गया, मारा गया, पीटा गया, गड्ढों में लटका दिया गया, जेलों में डाल दिया गया, और कई बार तो उन्हें फाँसी के तख़्ते से लौटाया गया।[२१]

एक बार महावीर तापसों के किसी आश्रम में एक झोंपड़ी में ठहरे हुए थे। उस समय वर्षा न होने से नवीन घास पैदा नहीं हुई थी, अतएव गाँव की गायें वहाँ आकर झोंपड़ी की घास खाती थीं। तापस लोग उन्हें डंडों से मारकर भगा देते थे, परन्तु महावीर झोंपड़ी की परवा किये बिना अपने ध्यान में बैठे रहते थे। आश्रम के कुलपति को जब यह मालूम हुआ तो उन्हों ने महावीर को बहुत उलाहना दिया। इस पर महावीर उस झोंपड़ी को छोड़कर अन्यत्र विहार कर गये। उस समय महावीर ने नियम लिया कि जहाँ रहने से दूसरों को क्लेश पहुँचे वहाँ कभी नहीं रहना तथा जहाँ रहना वहाँ मौन और कायोत्सर्ग (खड़े होकर ध्यान करना) पूर्वक रहना। एक बार

---

[२१] **ध्यान रखने की बात है कि दिगम्बर परम्परा के अनुसार तीर्थंकर उपसर्गातीत माने जाते हैं**

की बात है महावीर खड़े होकर ध्यान कर रहे थे, इतने में वहाँ एक ग्वाला आया और अपने बैलों को छोड़कर चला गया। जब वह वापिस लौटकर आया तो उस ने देखा बैल ग़ायब हैं। ग्वाले ने महावीर से पूछा, परन्तु महावीर मौनव्रत धारण किये हुए थे अतएव उन्हों ने कोई उत्तर नहीं दिया। इस पर ग्वाले को अत्यंत क्रोध आया और उस ने उन के कानों में लकड़ी की पच्चर ठोंक दीं। इस भयंकर कष्ट में महावीर कई दिन तक घूमते रहे! शास्त्रों में कहा है, महावीर के कष्ट देखकर एक बार इन्द्र ने महावीर से कहा, "भगवन्! यदि आप की आज्ञा हो तो मैं आप की सेवा में रहकर आप का कष्ट निवारण करूँ?" परन्तु महावीर ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया कि जो दूसरों के ऊपर निर्भर रहता है वह कभी अपना और दूसरों का कल्याण नही कर सकता।

बीमार पड़ने पर महावीर चिकित्सा न कराते थे; उन्हों ने विरेचन, वमन, विलेपन, स्नान, दन्तप्रक्षालन आदि का त्याग किया था। शिशिर ऋतु में छाया में, तथा ग्रीष्म में उकड़ूँ बैठकर वे सूर्य के सामने मुँह करके तप करते थे। देह धारण के लिये वे चावल, मोथ (मंथु), कुलथी (कुल्माष) आदि रूक्ष आहार करते थे। बहुत करके वे उपवास करते और एक एक महीने तक पानी नही पीते थे। कभी वे दो उपवास के बाद, कभी तीन, कभी चार और कभी पाँच उपवास के बाद आहार लेते थे। ग्राम अथवा नगर में प्रविष्ट होकर महावीर दूसरों को लिये बनाये हुए आहार की यत्नाचार से खोज करते थे। भिक्षा के लिये जाते हुए मार्ग में भूखे, प्यासे कौए आदि पक्षियों को देखकर तथा ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चांडाल, बिलाड़ी और कुत्ते को देखकर वे वहाँ से धीरे से खिसक जाते और अन्यत्र जाकर दूसरों को कष्ट पहुँचाये बिना आहार ग्रहण करते थे। वे भीगा हुआ, शुष्क अथवा ठंडा आहार लेते थे, बहुत दिन की रक्खी हुई कुलथी, बासी गोरस अथवा गेहूँ की रोटी (बुक्कस) तथा निस्सार धान्य (पुलाक) ग्रहण करते थे, तथा यदि इन में से कुछ भी न मिलता तो

वे समभाव रखते, उन के भाव किंचिन्मात्र भी विचलित न होते थे ।

इस प्रकार बारह वर्ष की घोर साधना के पश्चात् महावीर ने जंभियग्राम के बाहर ऋजुवालिका नदी के तट पर स्थित एक खेत में शाल वृक्ष के नीचे गोदोहन ग्रासन से उकड़ूँ बैठे हुए ध्यानमग्न ग्रवस्था में केवलज्ञान-दर्शन की--बोधि की—प्राप्ति की।[२२] महा तपस्वी की कठोर तपस्या सफल हुई, उनके हृदय-कपाट खुल गये, हृदय में प्रकाश ही प्रकाश मालूम पड़ने लगा, विकार सब शान्त हो गये, संशय सब मिट गये, ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ा, ग्रब जानने को कुछ बाक़ी न रहा, जिस के जानने के लिये इतनी दौड़-धूप थी, उधेड़-बुन थी, वह मिल गया । ग्राज प्रथम बार विश्व के कल्याण का मार्ग स्पष्ट दृष्टिगोचर हुग्रा ।

## ४ ग्रहिंसा का उपदेश

महावीर के लोकोत्तर उपदेश की चर्चा सर्वत्र होने लगी । लोग दूर दूर से उन का उपदेश सुनने ग्राये । बहुतों ने उन के धर्म में दीक्षा ली । इन में मगध, कोशल, विदेह ग्रादि देशों के ग्यारह कुलीन विद्वान् ब्राह्मण मुख्य थे । सर्वप्रथम महावीर का उपदेश था ग्रहिंसा । उन्हों ने कहा कि सब कोई जीना चाहता है, सब को ग्रपना ग्रपना जीवन प्रिय है, सब कोई सुखी बनना चाहता है, दुख से दूर रहना चाहता है, ग्रतएव किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना ठीक नहीं ।[२३] जो मनुष्य ग्रपनी व्यथा को समझता है, वह दूसरों की व्यथा का ग्रनुभव कर सकता है, ग्रौर जो दूसरों की व्यथा

---

[२२] **ग्राचारांग ६; कल्पसूत्र ५. ११२–१२०; ग्रावश्यक निर्युक्ति ११६–५२७; ग्रावश्यक चूर्णि पृ० २६८–३२३**

[२३] **ग्राचारांग २.८१; दशवैकालिक ६.११**

अनुभव करता है वह अपनी व्यथा भी समझ सकता है, अतएव शांत संयमी जीव दूसरों की हिंसा करके—दूसरों को कष्ट पहुँचा करके—जीवित नहीं रहना चाहते।[२४] वास्तव में देखा जाय तो जो मनुष्य दूसरों की ओर से बेपरवाह रहता है वह स्वयं अपनी उपेक्षा करता है और जो स्वयं अपनी उपेक्षा करता है वह दूसरों की ओर से बेपरवाह रहता है।[२५] दूसरे शब्दों में, व्यष्टि और समष्टि का अन्योन्याश्रय संबंध है, व्यक्ति समाज का ही एक अंग है और व्यक्ति को छोड़कर समाज कोई अलग वस्तु नहीं, अतएव प्रत्येक व्यक्ति पर समाज का उत्तरदायित्व है, इसलिये यदि हम अपनी उपेक्षा करते हैं तो यह समाज की उपेक्षा है और समाज की उपेक्षा से व्यक्ति की उपेक्षा होती है। **'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ'**[२६] (जो एक को जानता है वह सब को जानता है, और जो सब को जानता है वह एक को जानता है) इस प्रसिद्ध वाक्य का यही रहस्य है।

जैसा ऊपर कहा गया है महावीर के युग में यज्ञ-याग आदि का खूब प्रचार था, वैदिकी हिंसा को हिंसा नहीं समझा जाता था, तथा अंधश्रद्धा

---

तुलना करो—

**सब्बा दिसानुपरिगम्म चेतसा।**
**न एवज्झगा पियतरं अत्तना क्वचि॥**
**एवं पियो पुथु अत्ता परेसं।**
**तस्मा न हिंसे परं अत्तकामो॥**

**(संयुत्तनिकाय, कोसलसंयुत्त, १,९)**

**अर्थ—समस्त संसार में आत्मा से प्रियतर और कोई वस्तु नहीं, अतएव जिसे आत्मा प्रिय है उसे चाहिए कि वह दूसरे की हिंसा न करे**

[२४] **आचारांग १.५७**

[२५] **वही, १.२३**

[२६] **आचारांग ३.१२३**

के साथ-साथ उस समय द्वेष, क्लेश, घृणा और अहंकार की कलुषित भावनायें सर्वत्र फैली हुई थीं। ऐसे समय करुणामय महावीर ने सर्व-संहारकारिणी हिंसा के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई और बताया कि अहिंसा से ही मनुष्य सुखी बन सकता है, इसी से संसार की शांति क़ायम रह सकती है और समाज में सुख की अभिवृद्धि हो सकती है। **'जीवो जीवस्य जीवनम्'** इस शोषणात्मक सिद्धांत के विरुद्ध महावीर ने कहा कि लोकहित के लिये, समाज के कल्याण के लिये **'जीओ और जीने दो'** इस कल्याणकारी सिद्धांत के स्वीकार किये बिना हमारी बर्बर वृत्तियाँ--दूसरों का संहारकर जय पाने की भावनायें, दूसरों का अपयशकर यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की अभिलाषायें, निस्सहाय और पीड़ितों का सर्वस्व छीनकर वाहवाह लूटने की इच्छायें कभी तृप्त नही हो सकतीं। अपने आप को सुखी बनाने के लिये मनुष्य नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ करता है और इस से वह दूसरों को संताप पहुँचाता है जिस से संसार की शांति भंग होती है, अतएव महावीर का कथन था कि बुद्धिमान पुरुष अपना निज का दृष्टांत सामने रखकर अपने को प्रतिकूल लगनेवाली बातों को दूसरों के विरुद्ध आचरण नहीं करते। वास्तव में प्रमादपूर्वक--अयत्नाचारपूर्वक--कामभोगों में आसक्ति का नाम ही हिंसा है, अतएव महावीर का उपदेश था कि विकारों पर विजय प्राप्त करना, इन्द्रियदमन करना और समस्त प्रवृत्तियों को संकुचित करना ही सच्ची अहिंसा है। महावीर अहिंसा-पालन में बहुत आगे बढ़ जाते हैं और जब वे समस्त प्रकृति में जीव का आरोपणकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति तक की रक्षा का उपदेश देते हैं तो उन की अहिंसक वृत्ति--विश्वकल्याण की भावना--चरम सीमा पर पहुँच जाती है। महावीर ने जिस सर्वमुखी अहिंसा का उपदेश दिया था, वह अहिंसा केवल व्यक्ति-परक न थी बल्कि जगत् के कल्याण के लिये उस का सामूहिक रूप से उपयोग हो सकता था।

# ५ संयम, तप और त्याग का महत्त्व

महावीर ने अहिंसा, संयम और तप को उत्कृष्ट धर्म बताया है।[२७] देखा जाय तो अहिंसा को समझ लेने के पश्चात् उसे पुष्ट बनाने के लिये संयम और तप की आवश्यकता है। संयम का अर्थ है अपने ऊपर क़ाबू रखना। समय समय पर मनुष्य के सामने अनेक प्रलोभन आकर उपस्थित होते हैं, अनेक आकर्षण सामने आकर उसे डाँवाडोल बना देते हैं, इस से चपल और स्वेच्छाचारी चित्त का दमन करना कठिन हो जाता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, माया, लोभ और अहंकार के परवश होकर मनुष्य अपने ध्येय से च्युत हो जाता है,[२८] और अपना तथा लोक का कल्याण करने में असफल होता है। महावीर ने असंयम की—प्रमाद की—बहुत निन्दा की है और बताया है कि जैसे मरियल बैल को गाड़ी मे जोतकर उस से दुर्गम जंगल को पार करना कठिन हो जाता है उसी प्रकार असंयत—प्रमादी—पुरुष का अपने लक्ष्य तक पहुँचना कठिन है।[२९] इसीलिये उन्होंने विविध आख्यानों द्वारा अपने भिक्षुओं को उपदेश दिया है कि हे आयुष्मान् श्रमणो! सांसारिक काम-वासनाओं से, प्रलोभनों से हमेशा दूर रहो, तथा विपुल धनराशि और मित्र-बांधवों को एक बार स्वेच्छापूर्वक छोड़कर फिर से उन की ओर मुँह मोड़कर न देखो।[३०] जैसे सधा हुआ तथा कवचधारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार विवेकी जन जीवन-संग्राम में विजयी होकर इष्टसिद्धि प्राप्त करता है।[३१] विवेक होना इतनी सहज

---

[२७] दशवैकालिक १.१

[२८] उत्तराध्ययन ४.११–१२

[२९] उत्तराध्ययन २७

[३०] वही, १०.२९–३०

[३१] वही, ४.८

बात नहीं उस के लिये कठोर साधना की आवश्यकता होती है; काम-भोगों का परित्यागकर, वस्तुतत्त्व को ठीक ठीक समझकर संयम-पथ पर दृढ़ता-पूर्वक डटे रहने से ही कल्याण-मार्ग की प्राप्ति हो सकती है।[३२] दूसरे शब्दों में, संयम का अर्थ है अपनी इच्छाओं पर अंकुश रखना, अपना सुख त्यागकर दूसरों को सुख पहुँचाना, स्वयं शोषित होना—कष्ट सहन करना, परन्तु दूसरों को कष्ट न होने देना। इसीलिये संयम के साथ तप और त्याग की आवश्यकता बताई है। महावीर ने अनेक बार कहा है कि नग्न रहने से, भूखे रहने से, पंचाग्नि तप तपने से तप नहीं होता, तप होता है ज्ञानपूर्वक आचरण करने से। किसी वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण उस की ओर से उपेक्षित हो जाने को त्याग नहीं कहते, सच्चा त्याग वह है कि मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी उन की ओर से पीठ फेर लेता है, उन्हें धता बता देता है।[३३] बौद्धों के मज्झिमनिकाय में वैदेहिका नामक एक सेठानी की कथा आती है—अपने शांत स्वभाव और नम्रता के कारण वैदेहिका नगर भर में प्रसिद्ध हो गई थी। उसकी काली नाम की एक दासी थी। दासी ने सोचा कि मैं अपनी सेठानी का सब काम ठीक समय पर करती हूँ, अतएव वह शांत रहती है, और उसे ग़ुस्सा करने का मौक़ा नहीं मिलता। एक दिन दासी अपनी सेठानी की परीक्षा करने के लिये देर से उठी। सेठानी ग़ुस्सा होकर बोली "तू देर से क्यों उठी ?" और उसे बहुत डाँटने लगी। काली ने सोचा कि सेठानी को ग़ुस्सा तो ज़रूर आता है, परन्तु वह लोगों को अपना असली स्वरूप नहीं दिखाती। अगले दिन फिर दासी देर से सोकर उठी। सेठानी को बहुत क्रोध आया और उस ने दरवाज़े की छड़ निकालकर उस के सिर में इतने ज़ोर से मारी कि उस का सिर फट गया और उस में से लहू बहने लगा। सब लोग इकट्ठे हो गये और उस

---

[३२] वही, ४.१०

[३३] दशवैकालिक २.२–३

दिन से वह अपने दुष्ट स्वभाव के लिये प्रसिद्ध हो गई। इस दृष्टांत द्वारा बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को उपदेश दिया कि हे भिक्षुओ ! जब तक अपने विरुद्ध कोई बात नहीं सुनी जाती तब तक सब शांत रहते हैं, परन्तु अपने विरुद्ध वचन सुनने पर भी शांत रहना सच्ची शांति है।[३४]

तप और त्याग की भावना को महावीर ने अपने जीवन में प्रत्यक्ष ढालकर बताया था। उन की तपश्चर्या—देहदमन और कष्टसहिष्णुता, वास्तव में अद्भुत थी जिसे देखकर बड़े बड़े तपस्वियों के आसन डोल जाते थे। तिस पर भी उन का तप कुछ लौकिक कीर्ति अथवा सुख-प्राप्ति के लिये नहीं था, बल्कि उस में स्व और पर-कल्याण की भावना अन्तर्हित थी। केवल शुष्क देहदमन भी महावीर के तप का उद्देश्य नहीं था, उस में शारीरिक और मानसिक कठोर साधना द्वारा कायिक सुखशीलता तथा अधैर्यरूप मानसिक हिंसा के त्याग का रहस्य सन्निहित था। इसी पर महावीर ने भार दिया था। भगवती सूत्र में तप के बाह्य और आभ्यन्तर भेद बताते हुए कहा है कि प्रमाद आदि को नाश करने के लिये तथा आवश्यक आत्मबल प्राप्त करने के लिये शरीर, इन्द्रिय और मन को वश में रखने का नाम तप है।[३५] समंतभद्र ने लिखा है कि आध्यात्मिक तप का पोषण करने के लिये ही परम दुश्चर बाह्य तप किया जाता है।[३६] इस से स्पष्ट है कि महावीर के धर्म में बाह्य तप गौण था और अंतरंग शुद्धि ही एकमात्र उस का उद्देश्य था। अचेलकत्व के उपदेश का यही अर्थ था कि नग्न रहकर, अपनी आवश्यताएँ अधिक से अधिक घटाकर आत्मशुद्धि प्राप्त करनी चाहिये। सूत्रकृतांग में कहा है कि भले ही कोई नग्न अवस्था में विचरे, या एक एक महीने तक उपवास करे, परन्तु यदि उस के मन में

---

[३४] **ककचूपम सुत्त**

[३५] **२५.७**

[३६] **बृहत्स्वयंभू स्तोत्र, कुंथुजिन स्तोत्र ८३**

माया है तो उसे सिद्धि मिलनेवाली नहीं।[३७] आचार्य कुन्दकुन्द ने यही कहा है कि वस्त्र त्यागकर भुजायें लटकाकर चाहे कोटि वर्ष तप करो परन्तु अंतरंग शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं होता।[३८] इस से स्पष्ट है कि महावीर ने कोरी नग्नता का समर्थन नहीं किया। वास्तव में जो सरल हो, मुमुक्षु हो, और माया रहित हो उसी को सच्चा मुनि कहा गया है।[३९] केशी-गौतम के संवाद में पार्श्वनाथ की परंपरा के अनुयायी केशी ने जब महावीर के शिष्य गौतम से प्रश्न किया कि महावीर का धर्म अचेलक है और पार्श्वनाथ का सचेल, तो फिर दोनों का समन्वय कैसे हो सकता है ? इस पर गौतम ने उत्तर दिया कि हे महामुने ! मोक्ष के वास्तविक साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं, लिंग या वेश गौण है; लिंग साध्य की सिद्धि में साधन-मात्र है, उसे स्वयं साध्य समझ लेना भूल है।[४०] वास्तव में इसी तप का आदर्श उपस्थितकर दीर्घ तपस्वी महावीर अपने धर्म की भित्ति खड़े कर सके और आत्म-संयम, आत्म-अनुशासन और आत्म-विजय को इतना उच्च स्थान दे सके। तप और त्याग की उच्च भावना ही मनुष्य को अहिंसा के समीप लाकर संसार की अधिकाधिक शांति में अभिवृद्धि कर सकती है, यही महावीर वर्धमान का आदेश था।

अपने उद्देश्य तक पहुँचने में कितने ही कष्ट क्यों न आयें, परन्तु तपस्वी जन अपने मार्ग में सदा अटल रहते हैं। कोई उन्हें गाली दे या उन की स्तुति करे तो भी उस में वे समभाव धारण करते हैं। कर्त्तव्य-पथ पर डटकर खड़े रहने से ही मनुष्य कठिन और दुस्सह कठिनाइयों पर जय

---

[३७] २.१.६

[३८] भावप्राभृत ४

[३९] आचारांग १.३.१६

[४०] उत्तराध्ययन २३.२६—३३

प्राप्त कर सकता है,[४१] अन्यथा जहाँ वह ज़रा ढीला पड़ा कि ऊपर से गिर-कर एक दम नीचे पहुँच जाता है।[४२] इसीलिये महावीर ने कहा है कि "हे श्रमणो! पहले अपने साथ युद्ध करो, पहले आत्मशुद्धि करो, बाहर युद्ध करने से कुछ मिलनेवाला नहीं।"[४३] तप और त्याग का मार्ग शूरों का मार्ग है; यह लोहे के चने चाबने के समान कठोर, बालुका का ग्रास भक्षण करने के समान शुष्क, गंगा नदी के प्रवाह के विरुद्ध तैरने के समान कठिन, समुद्र को भुजाओं द्वारा पार करने के समान दुस्तर तथा असिधारा पर चलने के समान भयंकर है। तपस्वी जन इस मार्ग पर एकान्त-दृष्टि रखकर, अत्यन्त प्रयत्नशील होकर, अपनी समस्त प्रवृत्तियों को संकुचित-कर आचरण करते हैं।[४४] दूसरे शब्दों में, तप और त्याग का अर्थ है आत्म-दमन करना, दूसरों के सुख के लिये कष्ट सहन करना, उन के कष्ट-निवारण के लिये अपने सुख को न्योछावर कर देना, उन के हित में अपना हित मानना तथा अपने तप और त्याग द्वारा उन के साथ समचित्त हो जाना। महावीर ने अपने तपस्वी जीवन द्वारा हमें यही पाठ सिखाया था। इतनी उच्च भावनायें हो जाने पर निर्भयता और साहसपूर्वक कार्य करने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वयं आ जाती है।

## ६ समानता—जन्म से जाति का विरोध

अहिंसा को सामूहिक रूप देने के लिये महावीर के उपदेशों में समता के ऊपर अधिक से अधिक भार दिया गया है। उन्हों ने बताया कि अहिंसा की

---

[४१] आचारांग ६.२.१८०

[४२] सूत्रकृतांग १.३

[४३] आचारांग ५.२.१५४

[४४] नायाधम्मकहा १, पृ० २८ (वैद्य एडीशन)

प्रतिष्ठा के लिये अधिकाधिक समता की आवश्यकता है। जब तक हम ऊँच-नीच का, छोटे-बड़े का, धनवान-निर्धन का भाव पोषण करते हैं, तब तक हम अहिंसक नही कहे जा सकते। महावीर के उपदेशानुसार समस्त जीव एक समान हैं, उन में ऊँच-नीच की बुद्धि रखकर मनुष्य हिंसक वृत्ति का पोषण करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में जयघोष मुनि और विजयघोष ब्राह्मण का सुदर संवाद आता है। जयघोष जब विजयघोष की यज्ञशाला में भिक्षा माँगने गये तो विजयघोष ने यह कहकर मुनि को भगा दिया कि उस के घर वेदपाठी, यज्ञार्थी और ज्योतिषांग जाननेवाले ब्राह्मणों को ही भिक्षा मिलती है। उस समय जयघोष मुनि ने बताया कि चाहे कोई भी हो, जो अपना और दूसरों का कल्याण कर सके वही ब्राह्मण कहा जा सकता है; सच्चा ब्राह्मण वह है जिस ने राग, द्वेष, और भय पर विजय प्राप्त की है, जो अपनी इन्द्रियों पर निग्रह रखता है, कभी मिथ्या-भाषण नहीं करता, तथा जो सर्व प्राणियों के हित में रत रहता है। केवल सिर मुंड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं कहा जाता, ओंकार का जाप करने से ब्राह्मण नहीं हो जाता, जंगल में वास करने से कोई मुनि नहीं हो जाता, तथा कुश-वस्त्र धारण करने से कोई तपस्वी नहीं हो जाता। वास्तव में समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है। सच पूछा जाय तो मनुष्य अपने अपने कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाता है, किसी जाति-विशेष में उत्पन्न होने से नहीं।[८५] जैन ग्रंथों में ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इस

---

[८५] वही, २५.२३, २९–३१

तुलना करो—मा ब्राह्मण दारु समादहानो,
　　सुद्धिं अमञ्ञि बहिद्धा हि एतम्।
　　न हि ते न सुद्धिं कुसला वदन्ति,
　　यो बाहिरेन परिसुद्धिं इच्छे॥

प्रकार आठ तरह के मद बताते हुए कहा है कि जो पुरुष इन मदों के कारण अन्य धार्मिक पुरुषों का अनादर करता है, वह स्वयं धर्म का अनादर करता है, क्योंकि धार्मिक पुरुषों के बिना धर्म नहीं चलता। यहाँ सम्यग्दर्शन से युक्त चांडाल को भी पूजनीय बताकर उस के प्रति सन्मान प्रकट किया है।[४६] रविषेण आदि आचार्यों ने पद्मपुराण आदि शास्त्रों में गुणों से जाति मानकर उक्त सिद्धांत का समर्थन किया है।[४७] आगे चलकर जैन नैयायिकों ने भी जातिवाद के खंडन में अनेक तर्क उपस्थित किये हैं।[४८] दूसरी जगह हरिकेश नामक चांडाल-कुलोत्पन्न जैन भिक्षु का उल्लेख आता है। एक बार हरिकेश मुनि किसी यज्ञशाला में भिक्षा माँगने गये; वहाँ जातिमद से उन्मत्त राजपुरोहित ने उन्हे भिक्षा देने से इन्कार कर दिया और कहा कि यज्ञ करनेवाले जाति और विद्यायुक्त ब्राह्मण ही दान के सत्पात्र हैं। इस पर हरिकेश ने उपदेश दिया कि क्रोध आदि वासनाओं के मन में रहते हुए केवल वेद पढ़ लेने से अथवा अमुक जाति में पैदा हो

---

हित्वा अहं ब्राह्मण दारुदाहम्,
अज्झत्थं एव जलयामि जोतिं।
निच्चग्गिनी निच्चसमाहितत्तो,
अरहं अहं ब्रह्मचर्यं चरामि॥

(संयुत्तनिकाय, ब्राह्मणसंयुत्त १,९)

**अर्थ—हे ब्राह्मण! लकड़ियाँ जलाने से शुद्धि नहीं होती, यह केवल बाह्य शुद्धि है। मैं बाह्य शुद्धि को त्यागकर आध्यात्मिक अग्नि जलाता हूँ; मेरी अग्नि हमेशा जलती रहती है, मैं हमेशा उसमें तप्त रहता हूँ, मैं अर्हंत हूँ, और मैं ब्रह्मचर्य का पालन करता हूँ**

[४६] **रत्नकरण्ड श्रावकाचार १.२५–२९**

[४७] **५.१९४; ६.२०९–१०; ११.१९४–२०४**

[४८] **देखो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० १४३**

जाने से कोई उच्च नहीं हो सकता; जल में स्नानकर के यज्ञ आदि में प्राणियों की हिंसा करने से अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। असली यज्ञ है इन्द्रिय-निग्रह, तप उस यज्ञ की अग्नि है, जीव अग्नि-स्थान है, मन, वचन और काय-योग उस की कड़छी है, शरीर अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला साधन है, कर्म ईंधन है तथा संयम शांति-मंत्र है। जितेन्द्रिय पुरुष धर्मरूपी जलाशय में स्नानकर, ब्रह्मचर्यरूपी शांति-तीर्थ में नहाकर शांतियज्ञ करते हैं, वही वास्तविक यज्ञ है, वही धर्म है।[४९] बुद्ध ने भी हिंसामय यज्ञ-याग आदि का विरोध किया था। बौद्धधर्म में त्रिशरण, शिक्षा, शील, समाधि और प्रज्ञा नामक यज्ञ बताये गये हैं जिन में तेल, दही आदि से होम करना और दरिद्रों को दान देना बताया है।[५०] जातिवाद के संबंध में यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि वेदकाल में जो चातुवर्ण्य की रचना की गई थी उस का अभिप्राय यथायोग्य कार्य-विभाजन से था, परन्तु आगे चलकर जब यह व्यवस्था जन्मगत मानी जाने लगी तो महावीर और बुद्ध को इस का विरोध करना पड़ा, मूलतः इस व्यवस्था में दोष नहीं था।

ब्राह्मण और क्षत्रियों के अतिरिक्त महावीर के अनुयायी अनेक गृहपति (कृषिप्रधान वैश्य) तथा कुम्हार, लुहार, जुलाहे, माली, किसान आदि कर्मकर लोग थे। महावीर ने अनेक म्लेच्छ, चोर, डाकू, मच्छीमार, वेश्या, तथा चांडालपुत्रों को दीक्षा दी थी। स्वयं वे नगर के बाहर लुहार, बढ़ई, जुलाहे, कुम्हार आदि की शालाओं में ठहरते थे और उन्हें धर्मोपदेश देकर अपने धर्म का प्रचार करते थे। सच पूछा जाय तो जैनधर्म का मार्ग सब के लिये खुला था, वह धर्म जनता का था और उस में कोई भी आकर दीक्षित हो सकता था। शास्त्रों में कहा है कि महावीर के समवशरण (धर्मसभा) में किसी भी जाति का मनुष्य आकर

---

[४९] **उत्तराध्ययन १२**

[५०] **दीघनिकाय, कूटदन्त सुत्त**

धर्म-श्रवणकर कल्याण-पथ का पथिक बन सकता है। जिन का लोग पतित कहकर अनादर करते थे, जिन्हें धर्म-श्रवण का अनधिकारी मानते थे, जिन्हें उन के तथाकथित पेशे आदि के कारण धर्मपालन की मनाई थी, ऐसे पतितों, पीड़ितों और शोषितों को ऊँचे उठाकर महावीर ने निस्सन्देह जन-समाज का महान् कल्याण किया था। धनिकों और समृद्धिशालियों को महावीर का उपदेश था कि ऐ सांसारिक मनुष्यो! काम-भोगों से, भोग-विलास से कभी तृप्ति नहीं हो सकती, अतएव अपनी आवश्यकताओं को कम करो, अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रक्खो; सोना, चाँदी, गाय, बैल, खेत, गाड़ी, घोड़ा, वस्त्र, खान-पान, इतर-फुलेल, अलंकार-आभूषण आदि जो तुम्हारे घर अपरिमित मात्रा में भरे पड़े हैं उन का परिमाणकर दूसरों को आराम पहुँचाओ जिस से अन्य लोग भी इन वस्तुओं का यथायोग्य उपभोग कर सकें।[५१] महावीर के पंचव्रतों में जो अपरिग्रह व्रत है उस का यही अर्थ है कि जहाँ तक हो अपनी आवश्यकताओं पर, मिथ्या वासनाओं पर अंकुश रक्खो; अहिंसक पुरुष संग्रहशील नहीं हो सकता, उस का तो समस्त संग्रह, सब धन-धान्य, रुपया-पैसा परोपकार के लिये है। दूसरों को भूखे मरते देखकर, नंगा देखकर वह शान्ति से नहीं बैठ सकता। जिस महावीर के प्रवचन में इतनी उदारता थी, प्राणिमात्र का दुख दूर करने की दृढ़ वृत्ति थी, उस में फिर जाति-पाँति का, छोटे-बड़े का और धनवान्-निर्धन का क्या भेद हो सकता है? जैन शास्त्रों में भील और ब्राह्मण की एक कथा आती है—भील और ब्राह्मण दोनों शिव जी के भक्त थे। ब्राह्मण पत्र, पुष्प, गूगल, चंदन आदि से शिव जी की पूजा करता था जब कि भील के पास ये सब उत्तमोत्तम वस्तुएँ नहीं थीं, अतएव वह नाच गाकर ही भक्ति करता था। परन्तु फिर भी शिव जी भील को अधिक चाहते थे; ब्राह्मण ने इस का कारण पूछा। शिव जी ने

---

[५१] उपासकदशा १

एक दिन अपनी आँख फोड़ डाली। ब्राह्मण आया और यथावत् पूजा, सत्कार करके चला गया। थोड़ी देर बाद भील आया। उस ने शिव जी की एक आँख ग़ायब देखकर झट अपनी आँख निकालकर उन के लगा दी। जब ब्राह्मण को पता लगा तो उस की समझ में आया कि क्यों शिव जी भील को चाहते हैं।[५२] यह लौकिक उदाहरण यद्यपि भक्ति और मान की उत्कृ-ष्टता प्रदर्शित करने के लिये दिया गया है लेकिन इस से पता लगता है कि जैनधर्म में ऊँच-नीच तथा निरर्थक बाह्याडंबर के लिये कोई स्थान नहीं था। मनुष्य अपने कर्म से, अपने गुण से और अपनी मेहनत से ही उच्च पद प्राप्त कर सकता है, न कोई ऊँचा है न कोई नीचा, यह महावीर का अलौकिक संदेश था।

## ७ स्त्रियों का उच्च स्थान

स्त्री के विषय में महावीर बहुत उदार थे। उस युग में स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा थी। कोई उन्हें मायावी कहता था, कोई कृतघ्न कहता था, कोई चंचल कहता था, कोई कामाग्नि से धधकती हुई अग्नि कहता था, और कोई नरक की खान बताता था। स्मृतिकारों ने कहा है कि स्त्री को किसी भी अवस्था में स्वतंत्र न रहने देना चाहिये। बुद्धदेव जैसे जीवन के कलाकार उपदेशक के सामने जब स्त्री-दीक्षा का प्रश्न आया तो उन्हें इस विषय पर काफ़ी विचार करना पड़ा। पहले तो उन्होंने भिक्षुणी को अपने संघ में स्थान देने से इन्कार कर दिया, परन्तु अपनी मौसी महाप्रजापति गौतमी के बहुत आग्रह करने पर उन्हों ने उसे संघ में दाख़िल किया,[५३] यद्यपि आगे चलकर

---

[५२] बृहत्कल्प भाष्य पीठिका पृ० २५३

[५३] चुलवग्ग १०.१

बुद्ध ने स्त्रियों के प्रति काफ़ी सम्मान का प्रदर्शन किया है। ऐसी दशा में महावीर ने चतुर्विध संघ में स्त्रियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। प्राचीन जैन शास्त्रों में सैकड़ों महिलाओं के नाम मिलते हैं जिन्हों ने महावीर की धर्मकथा सुनकर आत्मकल्याण किया।[५४] चन्दनबाला, जिसे कौशांबी के सेठ ने बाज़ार से ख़रीदा था और सेठ की स्त्री ने जिस का सिर उस्तरे से मुँडवाकर और पैरों में बेड़ियाँ डालकर एक घर में बन्दकर दिया था, महावीर की प्रथम शिष्या और उन के भिक्षुणी-संघ की अधिष्ठात्री थी।[५५] इसी प्रकार राजीमती ने अपने संयम और त्याग द्वारा जो अपने चरित्र की उज्वलता का परिचय दिया है, वह किसी भी पुरुष के लिये स्पृहणीय है। संसार के सुखों का त्यागकर अरिष्टनेमि के पदचिह्नों का अनुगमन करना तथा स्वचरित्र से स्खलित होते हुए अरिष्टनेमि के भ्राता रथनेमि को संयम में स्थिर रखना यह राजीमती जैसी वीरांगना का ही काम था।[५६] जैन ग्रन्थों में स्त्री-रत्न चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में से एक माना गया है,[५७] तथा यह कहा गया है कि जल, अग्नि, चोर-डाकू, दुष्काल-जन्य आदि संकट उपस्थित होने पर सर्वप्रथम स्त्री की रक्षा करनी चाहिये।[५८] चेलना राजगृह के राजा श्रेणिक की रानी थी। एक बार महावीर के दर्शन करके लौटते समय उस ने रास्ते में तप करते हुए एक साधु को देखा। वह घर आकर रात को सो गई। संयोगवश सोते सोते उस का हाथ पलंग के नीचे लटक गया और ठंढ के मारे सुन्न हो गया। रानी की जब आँख खुली तो उस के शरीर में असह्य वेदना थी। उस के मुँह से अचानक निकल पड़ा

---

[५४] देखो अन्तगड ५,७,८, नायाधम्मकहा; मूलाचार ४.१९६

[५५] कल्पसूत्र ५.१३५

[५६] उत्तराध्ययन २२

[५७] जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति ३. ६७

[५८] बृहत्कल्प भाष्य ४.४३४९

कि ओह ! उस बिचारे का क्या हाल होगा ! राजा भी वहीं सोया हुआ था। उस ने जब ये वाक्य सुने तो उसे संदेह हुआ कि चेलना ने किसी पर-पुरुष को संकेत-स्थान पर बुलाया है और संभवतः अब वह न आ सकेगा, इसीलिये यह ऐसा कह रही है। प्रातःकाल श्रेणिक ने अपने मंत्री अभय-कुमार को बुलाकर समस्त अंतःपुर जला देने की आज्ञा दी, और स्वयं अपनी शंका दूर करने के लिये महावीर के पास पहुँचा। वहाँ जाकर श्रेणिक को मालूम हुआ कि चेलना पतिव्रता है। इस पर उस ने अपना सिर धुन लिया। परन्तु कुशल मंत्री अभयकुमार ने अभी तक अंतःपुर नहीं जलाया था। अभयकुमार को राजा श्रेणिक के इस निन्द्य बरताव पर बड़ी घृणा हुई, उसे संसार से वैराग्य हो आया, और उस ने महावीर के चरणों में बैठ-कर दीक्षा ले ली।[५९] अभयकुमार की इस दीक्षा में निस्सन्देह एक बड़ा भारी रहस्य था, बड़ी वेदना थी, जिस का अर्थ है कि स्त्री जाति के चरित्र को कलंकित करनेवाला, उस के विषय में शंकाशील रहनेवाला पुरुष चाहे वह कोई भी हो अधम है और उसकी चाकरी में रहना योग्य नहीं। यद्यपि इस संबंध में यह बात न भूलना चाहिये कि तत्कालीन वातावरण के प्रभाव के कारण जैन ग्रंथ स्त्री-निन्दा से अछूते न रह सके, जिस का एक प्रधान कारण था साधुओं को संयम में स्थिर रखना। जो कुछ भी हो अपने संघ में स्त्री को मुख्य स्थान देकर महावीर ने स्त्री जाति का महत्त्व स्वीकार किया था। पालि ग्रन्थों में आता है कि कोशल के राजा प्रसेनजित् के घर जब कन्या का जन्म हुआ तो राजा बहुत उदास हुआ, उस समय बुद्ध ने उसे समझाया कि हे राजन् ! पुत्री बड़ी होकर बुद्धिशाली और सुशीला होकर पतिव्रता हो सकती है, और गुणवान् पुत्र को जन्म देकर संसार का महान् कल्याण कर सकती है, अतएव तू अपनी पुत्री का अच्छी तरह पालन-पोषण कर।[६०] निस्सन्देह महावीर और बुद्ध ने स्त्री जाति को ऊँचा उठाकर

---

[५९] वही, पीठिका, पृ० ५७–८ [६०] संयुत्तनिकाय ३,२,६

यह बताया था कि उस में अपार शक्ति है, वह अपनी तीव्र श्रद्धा और भावना-वेग से चाहे जो कर सकती है और साथ ही वह अपने असीम मातृप्रेम द्वारा पुरुष को प्रेरणा और शक्ति प्रदानकर समाज का कल्याण कर सकती है।

## ८ ईश्वर-कर्तृत्व-निषेध—पुरुषार्थ का महत्त्व

महावीर का कथन था कि आत्मविकास की सर्वोच्च अवस्था का नाम ईश्वर है। जब मनुष्य राग-द्वेष से विमुक्त हो जाता है—अर्थात् मनुष्य ईश्वर बन सकता है—तो फिर उसे संसार की सृष्टि के प्रपंच में पड़ने से क्या लाभ ? तथा यदि ईश्वर दयालू है, सर्वज्ञ है तो फिर उस की सृष्टि में अन्याय, और उत्पीड़न क्यों होता है ? क्यों सब प्राणी सुख और शांति से नही रहते ? अतएव यदि ईश्वर अपनी सृष्टि को, अपनी प्रजा को सुखी नही रख सकता तो उस से क्या लाभ ? फिर यही क्यों न माना जाय कि मनुष्य अपने अपने कर्मों का फल भोगता है, जो जैसा करता है, वैसा पाता है। ईश्वर को कर्त्ता मानने से, उसे सर्वज्ञ स्वीकार करने से हम प्रारब्धवादी बन जाते हैं और किसी वस्तु पर हम स्वतंत्रतापूर्वक विचार नहीं कर सकते। अच्छा होता है तो ईश्वर करता है, बुरा करता है तो ईश्वर करता है, आदि विचार मनुष्य को पुरुषार्थहीन बनाकर जनहित से विमुख कर देते हैं। महावीर ने घोषणा की थी कि ऐ मनुष्यो ! तुम जो चाहे कर सकते हो, जो चाहे बन सकते हो, अपने भाग्य के विधाता तुम्हीं हो, पुरुषार्थपूर्वक, बुद्धिपूर्वक, अंधश्रद्धा को त्यागकर आगे बढ़े चलो, इष्टसिद्धि अवश्य होगी। बुद्ध ने एक स्थान पर कहा है कि किसी बात में केवल इसलिये विश्वास मत करो कि उसे मैं कहता हूँ या बहुत से लोग उसे मानते चले आये हैं, इसलिये विश्वास मत करो कि वह तुम्हारे आचार्यों की कही हुई बात है या तुम्हारे धर्मग्रन्थों में लिखी हुई है, बल्कि

प्रत्येक बात को अपने व्यक्तिगत अनुभव की कसौटी पर जाँचो; यदि तुम्हें वह अपने तथा औरों के लिये हितकर जान पड़े तो उसे मान लो, न जान पड़े तो छोड़ दो।[६१] कितना सुन्दर उपदेश है !

## ९ महावीर का धर्म—आत्मदमन की प्रधानता

महावीर का सीधा-सादा उपदेश था कि आत्मदमन करो, अपने आप को पहचानो और स्व-पर-कल्याण करने के लिये तप और त्यागमय जीवन बिताओ। 'किसी जीव को न सताओ, झूठ मत बोलो—जो एक बार कह दो उसे पूरा करो, चोरी मत करो—आवश्यकता से अधिक वस्तु पर अपना अधिकार मत रक्खो, परस्त्री को माँ-बहन समझो, तथा संपत्ति का यथायोग्य बँटवारा होने के लिये धन को बटोरकर मत रक्खो' संक्षेप में यही पंच पाप-निवृत्ति का उपदेश था जो हर किसी की समझ में आ सकता है। 'कर्ममल के कारण, सांसारिक वासनाओं के कारण मनुष्य का विकास नहीं हो पाता, प्रमाद के कारण वासनाओं के संस्कार आ-आकर जमा होते जाते हैं, उन का रोकना आवश्यक है जो विवेक से ही संभव है। जब मनुष्य को यह विवेक हो जाता है, उसे स्व और पर का ज्ञान हो जाता है और वह कल्याण का साक्षात्कारकर कल्याणपथ का पथिक बनता है', यही महावीर के सप्त तत्त्वों का रहस्य है। जैनधर्म के अनुसार आत्मविकास की चौदह श्रेणियाँ हैं, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। जिस समय मनुष्य उच्चतम श्रेणी पर पहुँच जाता है उस समय उसे कुछ करना बाक़ी नहीं रह जाता, वह कृतकृत्य हो जाता है, उस की सब गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं, ग्रंथियाँ सब टूट जाती हैं और वह आत्मानुभव की, आनन्द की चरम अवस्था होती

---

[६१] **अंगुत्तरनिकाय १, कालामसुत्त**

है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर ने आत्म-विकास, आत्म-अनुशासन और आत्म-विजय पर ही जोर दिया है। वास्तव में कल्याण-मार्ग को भले प्रकार समझ लेना ही केवलित्व या सर्वज्ञत्व है, यही आत्म-ज्ञान की प्रकर्षता है और इसी को तत्त्वज्ञान कहते हैं। जहाँ-तहाँ महावीर का यही उपदेश होता था कि दूसरों को कष्ट मत दो, दूसरों के दुख में अपना दुख समझो, इसी में सब का कल्याण है, इसी में मोक्ष है, उस के लिये न ईश्वर की आवश्यकता है, न किसी बाह्याडंबर की आवश्यकता है, आवश्यकता है आत्मशुद्धि की जो तुम्हारे हाथ में है, अतएव अपने आप को पहचानो और अपने आचरण द्वारा दूसरों का कल्याण करो।

## १० अनेकांतवाद

अनेकांत अहिंसा का ही व्यापक रूप है। राग-द्वेषजन्य संस्कारों के वशीभूत न होकर दूसरे के दृष्टिबिन्दु को ठीक ठीक समझने का नाम अनेकांत है; इस से मनुष्य में तथ्य को हृदयंगम करने की वृत्ति का उदय होता है जिस से सत्य के समझने में सुगमता होती है। अनेकांतवाद के अनुसार किसी भी मत या सिद्धांत को पूर्णरूप से सत्य नहीं मान सकते। प्रत्येक मत अपनी अपनी परिस्थितियों और समस्याओं को लेकर उद्भूत हुआ है, अतएव प्रत्येक मत में अपने-अपने ढंग की विशेषतायें हैं। अनेकान्तवादी उन सब का समन्वयकर उस में से जनोपयोगी मार्ग निकालकर आगे बढ़ता है। अनेकांतवाद के अनुसार प्रत्येक सिद्धांत में किसी न किसी दृष्टि से सचाई है। जब तक मनुष्य अपने ही धर्म या सिद्धान्त को ठीक समझता रहता है, अपनी ही बात को परम सत्य माना करता है, उस में दूसरे के दृष्टिबिन्दु को समझने की विशालता नहीं आ पाती और वह कूप-मण्डूक बना रहता है। उपाध्याय यशोविजय जी ने कहा है कि सच्चा अनेकांती किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता, वह समस्त दर्शनों के प्रति

इस प्रकार समभाव रखता है जैसे पिता अपने पुत्रों के प्रति। वास्तव में अनेकांतवाद—मानसिक शुद्धि—ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्म है; इसे प्राप्त कर लेने पर शास्त्रों के एक पद का ज्ञान प्राप्त कर लेना भी पर्याप्त है अन्यथा करोड़ों शास्त्र पढ़ जाने से भी कोई लाभ नहीं।[६२] वास्तव में देखा जाय तो उपशम वृत्ति ही महावीर के श्रामण्य-धर्म की भित्ति रही है, इसी भावना को अभिव्यक्त करने के लिये उन्होंने अहिंसा अर्थात् तप और त्याग, तथा अनेकांत अर्थात् मानसिक शुद्धि पर ज़ोर दिया है। उन का कहना था कि सत्य आपेक्षिक है, वस्तु का पूर्णरूप से त्रिकालाबाधित दर्शन होना कठिन है, उस में देश, काल, परिस्थिति आदि का भेद होना अनिवार्य है, अतएव हमें व्यर्थ के वाद-विवादों में न पड़कर अहिंसा और त्यागमय जीवन बिताना चाहिये, यही परमार्थ है। अनेकांत हमें अभिनिवेश से, आग्रह से मुक्त करता है; आग्रही पुरुष की युक्ति उस की बुद्धि का अनुगमन करती है जब कि निष्पक्ष पुरुष की—अनेकांती की—बुद्धि उस की युक्ति के पीछे पीछे दौड़ती है।[६३] सच पूछा जाय तो, अनेकांत का माननेवाला राग, द्वेषरूप आत्मा के विकारों पर विजय प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है, दूसरे के सिद्धांतों को वह आदर की दृष्टि से, जुदा जुदा पहलुओं से देखता है और विशाल भाव से विरोधों का समन्वयकर कल्याण का मार्ग खोज निकालता है। अनेकांत वस्तुतत्त्व को समझने की एक दृष्टि का नाम है, अतएव उसे अव्यवहार्य तर्कवाद का रूप देकर ज्ञान का द्वार बन्द कर देना ठीक नहीं।

---

[६२] **अध्यात्मोपनिषद् ६१,७१**

[६३] **आग्रही बत निनीषति युक्तिं**
**तत्र, यत्र मतिरस्य निविष्टा।**
**पक्षपातरहितस्य तु युक्ति-**
**र्यत्र, तत्र मतिरेति निवेशम्॥ (हरिभद्र)**

# ११ चतुर्विध संघ की योजना–साधुओं के कष्ट और उनका त्याग

अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिये, उन्हें जन-समाज तक पहुँचाने के लिये महावीर ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना की थी। इतिहास से पता लगता है कि प्राचीन भारत में अनेक प्रकार के संघ तथा गण मौजूद थे। जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में अठारह श्रेणियों का ज़िकर आता है, जिन में सुनार, चितेरे, धोबी आदि पेशेवर शामिल थे। ये श्रेणियाँ पेशों को लेकर बनी थीं, जाति को नहीं। आजकल की यूनियन या एसोसिएशन की तरह ये श्रेणियाँ होती थीं और राजा तक इनकी पहुँच होती थी। यदि इन के किसी सदस्य के साथ कोई दुर्व्यवहार या अन्याय होता था तो ये लोग राजा के पास जाकर न्याय की माँग करते थे। इसी प्रकार व्यापारियों की एसोसिएशन होती थीं। ये व्यापारी लोग विविध प्रकार का माल लेकर सार्थवाह के नेतृत्व में बड़े बड़े भयानक जंगल आदि पार करते थे। सार्थवाह धनुर्विद्या, शासन, व्यवस्था आदि में कुशल होता था तथा राजा की अनुमतिपूर्वक सार्थ (कारवाँ) को लेकर चलता था। व्यापारियों के ठहरने, भोजन, औषधि आदि का प्रबंध सार्थवाह ही करता था। इसके अतिरिक्त प्राकृत ग्रन्थों में मल्ल गण, हस्तिपाल गण, सारस्वत गण आदि गणों का उल्लेख आता है। मल्ल गण के विषय में कहा है कि इन लोगों में परस्पर बहुत ऐक्य था, तथा जब कोई उनके गण का अनाथ पुरुष मर जाता था तो ये लोग मिलकर उस की अन्त्येष्टि क्रिया करते थे, तथा एक दूसरे की मदद करते थे।[६४] मल्ल क्षत्रियों में जैन तथा बौद्धधर्म का बहुत प्रचार था। इन के बगौछिया

---

[६४] सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० २८

गोत्र तथा मझौली[६५] राजवंश का उल्लेख कल्पसूत्र में क्रम से वग्घावच्च गुत्त (व्याघ्रापत्य गोत्र) और मज्झिमिल्ला शाखा के रूप में किया गया है। इसी प्रकार महावीर और बुद्ध ने अपने अपने श्रमण संघ की स्थापना की थी। ये श्रमण लोग मठों या उपाश्रयों में रहते थे, सैकड़ों की संख्या में चलते थे, एक आचार्य के नेतृत्व में रहते थे और सब एक जैसे नियमों का पालन करते थे। जैन तथा बौद्ध श्रमण एक वर्ष में वर्षा ऋतु में चार महीने एक स्थान पर रहते थे, बाक़ी आठ महीने जनपद-विहार करते थे। जनपद-विहार के समय बताया है कि साधु को भिन्न-भिन्न देशों की भाषा तथा रीति-रिवाजों का ज्ञान होना चाहिये।[६६] पालि ग्रन्थों में कहा है कि बोधि प्राप्त करने के पश्चात् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से कहा था, "हे भिक्षुओ! तुम लोग बहुजन-हित के लिये, बहुजन-सुख के लिये चारों दिशाओं में जाओ, तथा आरंभ, मध्य और अंत में कल्याणप्रद मेरे धर्म का सब लोगों को उपदेश दो; एक साथ एक दिशा में दो मत जाओ।"[६७]

आज से अढ़ाई हज़ार बरस के पूर्व के अवैज्ञानिक युग में श्रमणों को क्या क्या कष्ट सहन करने पड़ते थे, आज इस की कल्पना करना भी कठिन है। सब से प्रथम उन्हें पर्यटन का ही महान् कष्ट था। न उस समय सड़कें थीं, न रेल-मोटरगाड़ी। मार्ग में बड़े बड़े भयानक जंगल पड़ते थे जो हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण थे। कहीं बड़े-बड़े पर्वतों को लाँघना पड़ता था, कहीं नदियों को पार करना पड़ता था, और कहीं रेगिस्तान में होकर जाना

---

[६५] हथुआ और तमकुही के बगौछिया आजकल भूमिहार ब्राह्मण कहे जाते हैं, तथा मझौली के राजा साहब आजकल बिसेन-राजपूत कहे जाते हैं; ये एक ही मल्ल क्षत्रियों के वंशधर हैं (राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबंधावलि, पृ० २५७)

[६६] देखो बृहत्कल्प भाष्य, १.१२२६–४०

[६७] महावग्ग, महास्कंधक

पड़ता था। कहीं झाड़, कहीं झाड़ियाँ, कहीं काँटे, कहीं पत्थर, कहीं गड्ढे और कहीं खाइयाँ इस प्रकार उस समय के मार्ग नाना संकटों से आकीर्ण थे। साधु लोग प्रायः क़ाफ़लों के साथ यात्रा करते थे।[६८] चोर-डाकुओं के उपद्रव तो उस समय सर्वसाधारण थे। उस ज़माने में चोरों के गाँव के गाँव बसते थे जिन्हें चोरपल्लि कहा जाता था। इन चोरों का एक नेता होता था और सब चोर उस के नेतृत्व में रहते थे। ये चोर साधु-साध्वियों को बहुत कष्ट देते थे।[६९] राज्योपद्रव-जन्य साधुओं के लिये दूसरा महान् संकट था। राजा के मर जाने पर देश में जब अराजकता फैल जाती थी तो साधुओं को महान् कष्ट होता था। उस समय आसपास देश के राजा नृपविहीन राज्य पर आक्रमण कर देते थे और दोनों सेनाओं में घोर युद्ध होता था। ऐसे समय प्रायः साधु लोग गुप्तचर समझ पकड़ लिये जाते थे। कभी विधर्मी राजा होने से जैन साधुओं को बहुत कष्ट सहना पड़ता था। जब राजा इन साधुओं को विनय आदि प्रदर्शन करने का आदेश देता तो वे बड़े संकट में पड़ जाते थे। कभी तो उन्हें बौद्ध, कापालिक आदि साधुओं का वेष बनाकर भागना पड़ता था, जैसे-तैसे अन्न पर निर्वाह करना पड़ता था, तथा पलाशवन और कमल आदि के तालाब में छिपकर अपनी प्राण-रक्षा करनी पड़ती थी।[७०] वसतिजन्य साधुओं को दूसरा कष्ट था। वसति—उपाश्रय में सर्प, बिच्छु, मच्छर, चींटी, कुत्तों आदि का उपद्रव था।[७१] उस के आसपास स्त्रियां अपना भ्रूण डालकर चली जाती थीं, चोर चोरी का माल रखकर भाग जाते थे, तथा कुछ लोग वहाँ आत्मघात कर लेते थे, इस से साधुओं को बहुत सतर्क रहना पड़ता था और

---

[६८] बृहत्कल्प भाष्य, पृ० ८५६–८८०

[६९] वही, पृ० ८४८–८५६

[७०] वही, पृ० ७७८–७८७

[७१] निशीथ चूर्णि, पृ० ३९७

अक्सर उन्हें अपने उपाश्रय का पहरा देना पड़ता था।[७२] योग्य वसति के अभाव में साधुओं को वृक्ष के नीचे ठहरना पड़ता था। बीमार हो जाने पर साधुओं को और भी तकलीफ़ होती थी। रोगी को वैद्य के घर ले जाना होता था, अथवा वैद्य को अपने उपाश्रय में बुलाकर लाना पड़ता था। ऐसी हालत में उस के स्नान-भोजन आदि का, तथा आवश्यकता होने पर उस की फ़ीस का प्रबंध करना होता था।[७३] दुष्काल की भयंकरता और भी महान् थी। पाटलिपुत्र का दुर्भिक्ष जैन इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा जब कि जैन साधुओं को यथोचित भिक्षा आदि के अभाव में अन्यत्र जाकर रहना पड़ा, जिस के फलस्वरूप जैन आगम प्रायः नष्ट-भ्रष्ट हो गये। ऐसे संकट के समय साधुओं को भिक्षा-प्राप्ति के लिये विविध उपायों का अवलंबन लेना पड़ता था,[७४] तथा निर्दोष आहार के अभाव में उन्हें कच्चे-पक्के ताल फल आदि पर निर्वाह करना पड़ता था।[७५] साध्वियों की कठिनाइयाँ साधुओं से भी महान् थीं, और उन्हें बड़े दारुण कष्टों का सामना करना पड़ता था। युवती साध्वियाँ तीन, पाँच, या सात की संख्या में एक दूसरे की रक्षा करती हुई वृद्धा साध्वियों में अंतर्हित होकर भिक्षा के लिये जाती थीं,[७६] और वे अपने शरीर को केले के वृक्ष के समान वस्त्र से ढाँक-कर बाहर निकलती थीं।[७७]

इस में संदेह नही भिक्षु-भिक्षुणीसंघ की स्थापनाकर सचमुच महावीर ने जन-समाज का महान् हित किया था। ये भिक्षु आर्य-अनार्य देशों

---

[७२] **बृहत्कल्प भाष्य ३.४७४७–९**

[७३] **वही, १.१९००–७२**

[७४] **वही, ४.४९५५–५८**

[७५] **वही, १.८०६–६२**

[७६] **मूलाचार ४.१९४**

[७७] **बृहत्कल्प भाष्य ३.४१०६ इत्यादि; १.२४४३**

में दूर-दूर परिभ्रमणकर श्रमणधर्म का प्रचार करते थे और समाज में अहिंसा की भावना फैलाते थे। भोजन-पान की इन की व्यवस्था श्रावक और श्राविका करते थे। महावीर ने बुद्ध के समान अपने भिक्षुओं को मध्यममार्ग का उपदेश नहीं दिया था। महावीर बार-बार यही उपदेश देते थे कि हे आयुष्मान् श्रमणो! इन्द्रिय-निग्रह करो, सोते, उठते, बैठते सदा जागरूक रहो और एक क्षण भर भी प्रमाद न करो; न जाने कब कौन सा प्रलोभन आकर तुम्हे लक्ष्यच्युत कर दे, अतएव जैसे अपने आप को आपत्ति से बचाने के लिये कछुआ अपने अंग-प्रत्यंगों को अपनी खोपड़ी मे छिपा लेता है, उसी प्रकार अपने मन पर क़ाबू रक्खो और अपनी चंचल मनोवृत्तियों को इधर-उधर जाने से रोको[७८]। भिक्षु लोग महाव्रतों का पालन करते थे, वे अपने लिये बनाया हुआ भोजन नहीं लेते थे, निमंत्रित होकर भोजन नहीं करते थे, रात्रि-भोजन[७९] नहीं करते थे, यह सब इस-लिये जिस से दूसरों को किंचिन्मात्र भी क्लेश न पहुँचे। संन्यासियों के समान कन्दमूल फल का भक्षण त्यागकर भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करने का अर्थ भी यही था कि जिस से श्रमण लोग जन-साधारण के अधिक संपर्क में आ सकें और जन-समाज का हित कर सकें। यह ध्यान रखने की बात है कि जैन भिक्षु उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, इक्ष्वाकु, हरिवंश नामक क्षत्रिय कुलों में तथा वैश्य, ग्वाले, नाई, बढ़ई, जुलाहे आदि के कुलों में ही भिक्षा ग्रहण कर सकते थे, राजकुलों में भिक्षा लेने की उन्हें सख़्त मनाई थी,[८०] इस से जैन श्रमणों की जनसाधारण तक पहुँचने की अनुपम साध का परिचय

---

[७८] आचारांग ६.२.१८१; ६.३.१८२

[७९] रात्रि में भिक्षा माँगने जाते समय बौद्ध भिक्षु अँधेरे में गिर पड़ते थे, स्त्रियाँ उन्हें देखकर डर जाती थीं, आदि कारणों से बुद्ध ने रात्रिभोजन की मनाई की थी (मज्झिमनिकाय, लकुटिकोपम सुत्त)

[८०] आचारांग २, १.२.२३४; १.३.२४४

मिलता है। इन भिक्षुओं ने निस्सन्देह महान् त्याग किया था। पाद और जंघा जिन के सूख गये हैं, पेट कमर से लग गया है, हड्डी-पसली निकल आई हैं, कमर की हड्डियाँ रुद्राक्ष की माला की नाईं एक एक करके गिनी जा सकती हैं, छाती गंगा की तरंगों के समान मालूम होती है, भुजायें सूखे हुए सर्पों के समान लटक गई हैं, सिर काँप रहा है, वदन मुरझाया हुआ है, आँखें अंदर को गड़ गई हैं, बड़ी कठिनता से चला जाता है, बैठकर उठा नहीं जाता, बोलने के लिये ज़बान नहीं खुलती,[८१] जिन के रौद्ररूप को देखकर स्त्रियाँ चीख़ मारकर भाग जाती हैं ! कितना रोमांचकारी दृश्य है ! बौद्ध भिक्षुओं के लिये कहा गया है कि आसन मारकर बैठे हुए भिक्षु के ऊपर पानी बरसकर यदि उस के घुटनों तक आ जाय तो भी वे अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते,[८२] रूखा-सूखा भोजन खाकर वे संतुष्ट रहते हैं;[८३] चार-पाँच कौर खाने के बाद यदि उन्हें कुछ न मिले तो वे पानी पीकर ही संतोष कर लेते हैं[८४]। एक बार कोई बौद्ध भिक्षु भिक्षा के लिये गाँव में गया। वहाँ एक कोढ़ी ने उसे कुछ चावल लाकर दिये; चावल के साथ कोढ़ी की उँगली भी कटकर भिक्षापात्र में गिर पड़ी, परन्तु इस से भिक्षु के मन में तनिक भी ग्लानि उत्पन्न नहीं हुई[८५]। यह कुछ मामूली त्याग नहीं था ! लोक-कल्याण के लिये अपने आप को उत्सर्ग कर देने का इतना उच्च आदर्श बहुत दुर्लभ है ! निस्सन्देह अपने तप और त्याग द्वारा आत्मोत्सर्ग कर देने की तीव्र लगन जब तक न हो तब तक हम किसी कार्य में सफल नहीं हो सकते। नई समाज की रचना करनेवाले तपस्वी महावीर ने अपने जीवन द्वारा हमें यही शिक्षा दी थी।

---

[८१] अनुत्तरोपपातिकदशा पृ० ६६

[८२] थेरगाथा ९८५

[८३] वही, ५८०

[८४] वही, ९८२–३

[८५] वही, १०५४–६

# १२ अहिंसा का व्यापक रूप—जगत्कल्याण की कसौटी

ऊपर कहा जा चुका है कि सब जीव जीना चाहते हैं, सब को सुख प्रिय है, अतएव अहिंसा को परम धर्म माना गया है। परन्तु यह विचारणीय है कि यदि केवल जीववध को ही हिंसा कहा जाय तो फिर श्वास लेने में और चलने-फिरने में भी हिंसा होती है, अतएव अहिंसक पुरुष का जीना ही कठिन हो जायगा। ऐसे समय शास्त्रकारों ने कहा है कि कोई जीव मरे या न मरे, परन्तु यदि मनुष्य जीवरक्षा का ठीक ठीक प्रयत्न नहीं करता है तो वह हिंसक है, और यदि वह जीवरक्षा का ठीक ठीक प्रयत्न करता है तो वह हिंसक नहीं है।[८६] इस का अर्थ यह हुआ कि जीवन-निर्वाह के लिये जो क्रियायें अनिवार्य हों उन के द्वारा यदि जीववध हो तो उसे हिंसा नहीं मानना चाहिये। इसी को जैन शास्त्रों में आरंभी हिंसा के नाम से कहा गया है। परन्तु इस से भी हिंसा-अहिंसा की जटिलता हल नहीं होती। जीवन-निर्वाह के लिये हम नाना प्रकार के उद्योग-धंधे करते हैं, बीमारी आदि का इलाज करते हैं, अथवा अन्यायी, अत्याचारी, चोर, डाकू तथा शेर आदि जंगली पशुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा करना चाहते हैं, ऐसे समय हमें जीवित रहने के लिये अपनी रक्षा करनी पड़ती है, जिस में दूसरों की हिंसा अनिवार्य है। इन हिंसाओं को जैन शास्त्रों में क्रम से उद्योगी और विरोधी हिंसा के नाम से कहा गया है। ऐसी हालत में हमें अहिंसा की दूसरी व्याख्या बनानी पड़ती है कि लोक-कल्याण के लिये, 'अधिक-

---

[८६] **मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।**
**पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥**

**(प्रवचनसार ३.१७)**

तम प्राणियों के अधिकतम सुख' की भावना को लेकर जो कार्य किया जाय वह अहिंसा है, बाक़ी हिंसा है। छेदसूत्रों में 'अल्पतर संयम को त्यागकर बहुतर संयम ग्रहण करने' का आदेश देते हुए कहा गया है कि कभी कभी ऐसे विषम प्रसंग उपस्थित होते हैं कि संयम-पालन की अपेक्षा आत्म-रक्षा प्रधान हो जाती है, क्योंकि जीवित रहने पर मुमुक्षु जनों के प्रायश्चित्त द्वारा आत्म-संशोधनकर अधिक संयम का पालन कर सकने की संभावना है।[८७] यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्राचीन काल में विषम परिस्थिति उपस्थित होने पर अपने संघ की रक्षा करने के लिये जैन साधुओं को उत्सर्ग मार्ग छोड़कर अनेक बार अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेना पड़ता था जिस की विस्तृत चर्चा छेद ग्रन्थों में आती है। कालकाचार्य की कथा जैन ग्रन्थों में बहुत प्रसिद्ध है—एक बार उन की साध्वी भगिनी को पकड़कर उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल ने अपने अंतःपुर में रखवा दिया। कालकाचार्य इसे कैसे सहन कर सकते थे, यह संघ का बड़ा भारी अपमान था! पहले तो उन्हों ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया-बुझाया, परन्तु जब वह नहीं माना तो कालकाचार्य ईरान (पारस) पहुँचे और वहाँ से छियानवें शाहों को लाकर गर्दभिल्ल पर चढ़ाई कर दी। तत्पश्चात् उन्हों ने शाहों को उज्जयिनी के तख़्त पर बैठाकर अपनी भगिनी को पुनः धर्म में दीक्षित किया[८८]। इस कथानक के जो चित्र उपलब्ध हुए हैं उन में स्वयं कालक आचार्य अपने साधु के उपकरण लिये हुए अश्वारूढ़ होकर शत्रु पर बाण छोड़ते हुए दिखाये गये हैं। श्रमण-संघोद्धारक

---

[८७] **सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खंतो।**
**मुच्चति अतिवायाओ पुणो विसोही ण ता विरती॥**
**तुमं जीवंतो एयं पच्छित्तेण विसोहेहिसि अण्णं च संजमं काहिसि (निशीथ चूर्णि पीठिका, पृ० १३८)**

[८८] **वही, १०, पृ० ५७१**

विष्णुकुमार मुनि की कथा दिगम्बर और श्वेतांबर दोनों ग्रन्थों में आती है। वर्षा ऋतु मे साधु को विहार करना निषिद्ध है, परन्तु जब विष्णुकुमार मुनि को ज्ञात हुआ कि नमुचि नामक ब्राह्मण राजा हस्तिनापुर में जैन श्रमणों को महान् कष्ट पहुँचा रहा है तो वे वर्षाकाल की परवा न करके अपना ध्यान भंगकर हस्तिनापुर आये और नमुचि से तीन पैर स्थान माँगकर उसे समुचित दण्ड देकर श्रमण-संघ की रक्षा की। बहुत बार राजा लोग श्रमणों के धर्म से द्वेष करनेवाले होते थे और इसलिये वे उन्हें बहुत परेशान करते थे। ऐसी असाधारण परिस्थिति उपस्थित होने पर कहा गया है कि जैसे चाणक्य ने नन्दों का नाश किया, उसी प्रकार प्रवचन-प्रद्विष्ट राजा का नाशकर संघ और गण की रक्षाकर पुण्योपार्जन करना चाहिये[८९]। अनेक बार जब श्रमणियाँ भिक्षा के लिये पर्यटन करती थीं तो नगरी के तरुण जन उन का पीछा करते थे और उन के साथ हँसी-मज़ाक़ करते थे। ऐसे आपद्धर्म के अवसर पर बताया है कि अस्त्र-शस्त्र में कुशल तरुण साधु श्रमणी के वेष में जाकर उद्दण्ड लोगों को अमुक समय अमुक स्थान पर मिलने का संकेत देकर उन्हें समुचित दण्ड दे[९०]। सुकुमालिया साध्वी की कथा जैन ग्रंथों में आती है——वह अत्यन्त रूपवती थी, अतएव जब वह भिक्षा के लिये जाती तो तरुण लोग उस का पीछा करते और कभी कभी तो उपाश्रय में भी घुस जाते थे। आचार्य को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने सुकुमालिया के साधु भ्राताओं को उस की रक्षा के लिये नियुक्त किया। दोनों भाई राजपुत्र होने के कारण सहस्त्र-योधी थे, अतएव जो कोई उन की बहन से छेड़-छाड़ करता उसे वे उचित दण्ड देते थे[९१]।

---

[८९] बृहत्कल्प भाष्य ३, पृ० ८८०; व्यवहार भाष्य ७, पृ० ९४–५; १, पृ० ७७

[९०] बृहत्कल्प भाष्य २, पृ० ६०८

[९१] वही, ५, पृ० १३९७–८

यद्यपि उक्त उदाहरण अपवाद अवस्था के हैं, परन्तु ये इस बात के द्योतक हैं कि जैन भिक्षु आपत्काल आने पर आततायी जनों को उचित दण्ड देने के लिये जो बाध्य हुए उस का कारण था एकमात्र लोकहित---श्रमण-संघ की रक्षा। आगे चलकर अर्वाचीन जैन ग्रन्थों में जो हिंसा के संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी इस प्रकार चार भेद बताकर गृहस्थ को संकल्पी अर्थात् इरादेपूर्वक, जान बूझकर की हुई हिंसा को छोड़कर बाक़ी तीन हिंसायें करने की जो छूट दी गई है वह भी यही घोषित करता है कि जगत् का कल्याण ही अहिंसा की एकमात्र कसौटी है। वास्तव में अहिंसा, सत्य आदि गुण जब तक सामूहिक रूप न धारण कर लें तब तक उनका जनहित की दृष्टि से कोई मूल्य नही। जैनधर्म ने अहिंसा के पालन करने में कोई ऐसी शर्त नही लगाई जिस से किसी राजा या क्षत्रिय को प्रजा का पालन करते समय अपने राजकीय कर्त्तव्य से च्युत होना पड़े। इसके विपरीत जैन शास्त्रों में श्रेणिक, कूणिक अजातशत्रु, चेटक, संप्रति, खारवेल, कुमारपाल आदि अनेक राजाओं के उदाहरण मिलते हैं जिन्हों ने प्रजा की रक्षार्थ शत्रु से युद्ध किया। भरत आदि चक्रवर्ती राजाओं की दिग्विजयों के विस्तृत वर्णन भी इस के द्योतक हैं। अतएव मानना होगा कि जिस अहिंसा में लोककल्याण की भावना है, जनसमाज का हित है उसी को अहिंसा माननी चाहिये। जैन ग्रंथों में एक राजा की कथा आती है--किसी राजा के तीन पुत्र थे। वह उन में से एक को राजगद्दी पर बैठाना चाहता था, परन्तु निश्चय न कर पाता था कि किस को बैठाना चाहिये। एक दिन राजा ने तीनों राजकुमारों की थालियों में खीर परोसी और व्याघ्र-समान भयंकर कुत्तों को उन पर छोड़ दिया। पहला राजकुमार कुत्तों के भय से अपनी थाली छोड़कर भाग गया, दूसरे ने डंडे से कुत्तों को मार भगाया और स्वयं खीर खाता रहा, तीसरे राजकुमार ने स्वयं भी खीर खाई और कुत्तों को भी खाने दिया। राजा तीसरे राजकुमार से

बहुत प्रसन्न हुआ और उसे राजगद्दी पर बैठा दिया।[९२] इस दृष्टांत से पता लगता है कि अहिंसा में लोकहित की तीव्र भावना थी।

## १३ जैनधर्म—लोकधर्म

पहले कहा जा चुका है कि महावीर का धर्म किसी व्यक्ति-विशेष के लिये नहीं था, वह जनसाधारण के लिये था। जैन शास्त्रों में कहा है कि केवलज्ञान होने के पश्चात् तीर्थंकर बनने के लिये जगत् को उपदेश देकर जगत् का कल्याण करना परमावश्यक है, अन्यथा तीर्थंकर, तीर्थंकर नहीं कहा जा सकता।[९३] श्रमणसंघ का तो काम ही यह था कि वे जनपद-विहार करें, देश-देशांतर परिभ्रमण करें, और अपने आदर्श जीवन द्वारा, अपने सदुपदेशों द्वारा प्रजा का कल्याण करें। संस्कृत भाषा को त्यागकर लोकभाषा--मागधी अथवा अर्धमागधी (जो मगध--बिहार प्रान्त की भाषा थी) में महावीर ने जो उपदेश दिया था उस का उद्देश्य यही था कि वे अपनी आवाज़ को बाल-वृद्ध, स्त्री तथा अनपढ़ लोगों तक पहुँचाना चाहते थे। उस युग में समाचार-पत्र, रेडियो आदि न होने पर भी महावीर और बुद्ध के उपदेश इतनी जल्दी लोकप्रिय हो गये थे, इस से मालूम होता है कि इन संत पुरुषों के सीधे-सादे वचनों ने जनता के हृदय पर अद्भुत प्रभाव डाला था। आगे चलकर भी जैन श्रमणों ने अपने धर्म को लोक-

---

[९२] व्यवहार भाष्य ४, पृ० ३८

[९३] तुलना करो--

बुज्झाहि भगवं लोगनाहा! सयलजगज्जीवहियं पवत्तेहि धम्मतित्थं।
हियसुयनिस्सेयसकरं सव्वलोए सव्वजीवाणं भविस्सइ त्ति॥
(कल्पसूत्र ५.१११)

धर्म बनाने के लिये पूर्ण प्रयत्न किया जिस के फलस्वरूप उस समय मे प्रचलित इन्द्र, स्कन्द, नाग, भूत, यक्ष आदि देवताओं की पूजा भी जैनधर्म में शामिल हो गई,[९४] और जैन उपासक-उपासिकायें लौकिक देवी-देवताओं की अर्चनाकर अपने को धन्य समझने लगे। जैन ग्रंथों में आचार्य कालक की एक दूसरी कथा आती है—एक बार कालक आचार्य पइट्ठान (पैठन) नगर में पहुँचे और उन्हों ने भाद्रपद सुदी पंचमी के दिन पर्यूषण मनाये जाने की घोषणा की। परन्तु इस दिन इन्द्रमह का उत्सव मनाया जानेवाला था, अतएव कालकाचार्य ने सब के कहने पर पर्यूषण की तिथि बदलकर पंचमी से चतुर्थी कर दी।[९५] इस ऐतिहासिक घटना से मालूम होता है कि लोकधर्म को साथ लेकर आगे बढ़ने की भावना जैन श्रमणों मे कितनी अधिक थी! मथुरा के जैन स्तूपों में जो नाग, यक्ष, गंधर्व, वृक्षचैत्य, किन्नर आदि के खुदे हुए चित्र उपलब्ध हुए है उस से पता लगता है कि जैन कला में भी लोकधर्म का प्रवेश हुआ था। इसी प्रकार विद्या-मंत्र आदि के प्रयोगों का जैन श्रमणों के लिये निषेध होने पर भी वे लोकधर्म निबाहने के लिये इन का सर्वथा त्याग नही कर सके। जैन ग्रंथों में भद्रबाहू, कालक, खपुट, पादलिप्त, वज्रस्वामी, पूज्यपाद आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख आता है जो विद्या-मंत्र आदि में कुशल थे और जिन्हों ने अवसर आने पर विद्या आदि के प्रयोगों द्वारा जैनसंघ की रक्षा की थी। जैन शास्त्रों में अनेक विद्याधर और विद्याधरियों का कथन आता है जो जैनधर्म के परम उपासक थे। इस के अतिरिक्त उस ज़माने में जो बलिकर्म (कौओं आदि को अपने भोजन में से नित्यप्रति कुछ दान करना), कौतुक, मंगल, प्रायश्चित्त आदि के लौकिक रिवाज प्रचलित थे, उन को भी जैन

---

[९४] **निशीथ चूर्णि (१६, पृ० ११७४) में इन्द्र, स्कन्द, यक्ष और भूतमह ये चार महान् उत्सव बताये गये हैं**

[९५] **वही, १०, पृ० ६३२ इत्यादि**

उपासकों ने अपनाया था। मृतक की अन्त्येष्टि क्रिया करते समय कहा गया है कि जैन साधुओं को सर्वप्रथम नैऋत दिशा पसंद करनी चाहिये, और तृण बिछाकर केशर का पुतला बनाना चाहिये; शुभ नक्षत्र में मृतक को निकालना चाहिये;[९६] विहार करते समय साधु को तिथि, करण, नक्षत्र आदि का विचार करके यात्रा आरंभ करनी चाहिये,[९७] इस प्रकार की लौकिक विधि न पालने से जैन श्रमणों को उपहास-पात्र होना पड़ता था।[९८] जैन गृहस्थ भी यात्रा आदि शुभ कार्यों के आरंभ में तिथि, नक्षत्र आदि का ध्यान रखते थे, गृहदेवता की पूजा (बलि) करते थे, धूप आदि जलाते थे और समुद्र-वायु की पूजा करते थे।[९९] इस से यही मालूम होता है कि जैन श्रमणों ने लोकधर्म को अपनाकर उस में अपने अहिंसा, तप, त्याग आदि के सिद्धांतों का समावेशकर जैनधर्म को आगे बढ़ाया। बौद्ध भिक्षु भी विघ्न, रोग आदि का नाश करने के लिये तथा सर्प-विष निवारण के लिये परित्राण-देशना आदि का पाठ करते थे और मंगलसूत्र पढ़ते थे।[१००] वास्तव में देखा जाय तो महावीर और बुद्धकाल में साम्प्रदायिकता का ज़ोर नहीं था, यही कारण है कि जब बुद्ध, महावीर या अन्य कोई साधु-संत किसी नगरी में पधारते थे तो नगरी के सब लोग उन के दर्शन के लिये जाते थे और उन का धर्म श्रवणकर अपने को कृतकृत्य मानते थे। परन्तु समय बीतने पर ज्यों ज्यों जैनधर्म में निर्बलता आती गई, उन

---

[९६] **बृहत्कल्प भाष्य ४.५५०५–२७; भगवती आराधना १९७०–८८**

[९७] **व्यवहार भाष्य १, १२५ इत्यादि, पृ० ४० अ**

[९८] **सोमदेव ने यशस्तिलक (२, पृ० ३७३) में कहा है—**

**यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्।**
**सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः॥**

[९९] **नायाधम्मकहा ८, पृ० ९७–८**

[१००] **मिलिन्दप्रश्न, हिन्दी अनुवाद, पृ० १८६ तथा परिशिष्ट**

के अनुयायियों ने ब्राह्मणों का विरोध करना छोड़ दिया और उन की बातों को अपनाते चले गये। फल यह हुआ कि जैनों ने अपने पड़ौसियों की देखा-देखी अग्निपूजा[१०१] स्वीकार की, सूर्य में जिनप्रतिमा मानकर सूर्य की पूजा करने लगे, गंगा के प्रपात-स्थल पर शिवप्रतिमा के स्थान पर जिनप्रतिमा मानकर गंगा के महत्त्व को स्वीकार किया, यज्ञोपवीत आदि संस्कारों को अपनाया, यहाँ तक कि आगे चलकर वे जाति से वर्णव्यवस्था भी मानने लगे। फल यह हुआ कि जैनधर्म अपनी विशेषताओं को खो बैठा और अन्य धर्मों की तरह वह भी एक रूढ़िगत धर्म हो गया।

## १४ महावीर और बुद्ध की तुलना

बौद्ध ग्रंथों में पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केसकंबल, पकुध कच्चायन, निगंठ नाटपुत्त और संजय वेलट्ठिपुत्त इन छः गणाचार्य, यशस्वी और बहुजन-सम्मत तीर्थंकरों का उल्लेख आता है।[१०२] निगंठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) महावीर बुद्ध के समकालीन थे और संभवतः बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् महावीर का निर्वाण हुआ था।[१०३] जैसा ऊपर कहा जा चुका है महावीर का असली नाम वर्धमान था और वे ज्ञातृवंश में पैदा होने के कारण ज्ञातृपुत्र कहे जाते थे। महावीर महा तपस्वी थे और तीर्थप्रवर्तन के कारण वे तीर्थंकर कहलाते थे। बुद्ध का वास्तविक नाम सिद्धार्थ था और शाक्यकुल में पैदा होने के कारण वे शाक्य-

---

[१०१] **जिनसेन, आदिपुराण पर्व ४०**

[१०२] **देखो संयुत्तनिकाय, कोसलसंयुत्त, १,१**

[१०३] **प्रोफ़ेसर जैकोबी का यही मत है। मुनि कल्याणविजय जी का मानना है कि बुद्धनिर्वाण के लगभग चौदह वर्ष पीछे महावीर का निर्वाण हुआ (वीरनिर्वाण-संवत् और जैन कालगणना)**

पुत्र कहे जाते थे। बुद्ध ज्ञानी थे और वे तथागत कहे जाते थे। महावीर देहदमन और तपश्चर्या पर ज़ोर देते थे और वे एकांत स्थानों में जाकर तपस्या करते थे। बुद्ध ने भी साधु-जीवन में अचेलक रहकर नाना तपस्याओं द्वारा शरीर का दमन किया था, परन्तु ज्ञान होने के पश्चात् उन्हों ने कायक्लेश तथा सांसारिक सुखभोग इन दोनों अन्तों को त्याग-कर मध्यममार्ग का उपदेश दिया था। महावीर नाना व्रत-उपवास आदि द्वारा आत्म-दमन, इच्छा-निरोध और मानसिक-संयम पर भार देते थे जब कि बुद्ध चित्तशुद्धि के लिये सम्यक् आचार, सम्यक् विचार आदि अष्टांग मार्ग का उपदेश करते थे। महावीर अपने शिष्यों की बाह्य जीवन-चर्या पर नियंत्रण रखते थे, जब कि बुद्ध चित्तशुद्धि पर भार देते थे। महावीर आत्मोद्धार के लिये सतत प्रयत्नशील रहते थे, लोक-समाज से जहाँ तक बने दूर रहते थे, और आत्मत्याग पर भार देने से उन का धर्म आत्मधर्म कहलाया। बुद्ध इसके विपरीत, सम्यक् आचार-विचार को जीवन में मुख्य मानते थे, और समाज में हिलते-मिलते थे, अतएव उन का धर्म लोक-धर्म कहलाया। महावीर ने अहिंसा को परम धर्म बताते हुए प्राणिमात्र की रक्षा का उपदेश दिया। बुद्ध ने भी अहिंसा को स्वीकार किया परन्तु उन्हों ने दया और सहानुभूति को मुख्य बताया। महावीर और बुद्ध दोनों महान् विचारक थे; महावीर ने आत्मा, मोक्ष आदि के विषय में अपने निश्चित विचार प्रकट किये थे, जब कि बुद्ध नैरात्म्यवादी थे और वे दुःख, दुःखोत्पाद, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध-मार्ग इन चार आर्यसत्यों द्वारा सम्यक् आचरण का उपदेश देते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर और बुद्ध दोनों ही अपने समय के नवयुग-प्रवर्तक लोकोत्तर पुरुष थे, और दोनों ने ही अपने-अपने ढंग से जन-समाज का हित किया था। दोनों का तप और त्याग महान् था, और दोनों में लोकहित की तीव्र भावना थी। दोनों उदार थे और दोनों ने अपने विरोधियों का बड़ी सहिष्णुता से सामना किया था। महावीर ने

जब तपश्चर्या, आत्मदमन और अहिंसा का उपदेश दिया तो वे कहना चाहते थे कि लोग आत्म-अनुशासन के महत्त्व को समझें, आत्म-नियंत्रण की उपेक्षाकर सुखप्रिय न बनें और दूसरों को अपने समान मानें। इसी प्रकार बुद्ध ने जब ज्ञान का, मध्यममार्ग का और अनात्मा का उपदेश दिया तो उन का कहना था कि लोग ज्ञानपूर्वक आचरण करें, शुष्क क्रियाकांडी अथवा विलासप्रिय न बनें, तथा आत्मभाव (अहंकार) का पोषणकर अहंवादी न हो जायें। महावीर ने जो अहिंसा और अनेकांत का उपदेश दिया, अथवा बुद्ध ने जो चार आर्यसत्य और अष्टांग मार्ग का प्ररूपण किया उस का अभिप्राय यही था कि सर्वप्रथम आत्मशुद्धि करो, अपना आचरण सुधारो, इसी से निर्वाण की प्राप्ति होती है। महावीर लोक-समाज से दूर रहकर अपने आत्मबल से लोगों को प्रभावित करके लोकहित करना चाहते थे जब कि बुद्ध लोगों में हिल-मिलकर उन का कल्याण करते थे; उद्देश्य दोनों का एक था।

## १५ महावीर-निर्वाण और उसके पश्चात्

बारह वर्ष तक कठिन तप करने के पश्चात् महावीर ने तीस वर्ष उपदेशक अवस्था में व्यतीत किये। इस लंबे काल में उन्हों ने दूर दूर तक परिभ्रमण किया और लोगों को अहिंसा और सत्य का उपदेश देकर लोकहित का प्रदर्शन किया। विहार करते करते महावीर मज्झिमपावा पधारे और वहाँ चौमासा व्यतीत करने के लिये हस्तिपाल राजा के पटवारी के दफ़्तर (रज्जुगसभा) में ठहरे। एक एक करके वर्षाकाल के तीन महीने बीत गये और चौथा महीना लगभग आधा बीतने को आया। कार्त्तिक अमावस्या का प्रातःकाल था; महावीर का यह अन्तिम उपदेश था। उन्हों ने अपना अन्तिम समय जानकर उपदेश की अखण्ड धारा चालू रक्खी और पुण्य-पापविषयक अनेक उपदेश सुनाये। महावीर के निर्वाण के

समय काशी-कोशल के नौ मल्ल और नौ लिच्छवि जो अठारह गणराजा कहलाते थे, मौजूद थे; उन्हों ने इस शुभ अवसर पर सर्वत्र दीपक जलाकर महान् उत्सव मनाया[१०४]। बात की बात में महावीर-निर्वाण की चर्चा सर्वत्र फैल गई। भुवन-प्रदीप संसार से सदा के लिये बुझ गया; किसी ने कहा संसार की एक दिव्य विभूति उठ गई है, किसी ने कहा अब दुर्बलों का मित्र कोई नहीं रहा, दुनिया का तारनहार आज चल बसा है, किसी ने कहा संसार आज शोभा-विहीन हो गया है, शून्य हो गया है, किसी ने कहा कि श्रमण भगवान् आज कूच कर गये हैं तो क्या, वे हमारे लिये बहुत कुछ छोड़ गये हैं, बहुत कुछ कर गये हैं, उन के उपदेशों को आगे बढ़ाने का काम हम करेंगे, उन के झंडे को लेकर हम आगे बढ़ेंगे, दुनिया को सत्पथ प्रदर्शन करने की ज़िम्मेवारी अब हमारे ऊपर है।

महावीर को निर्वाण गये आज लगभग अढ़ाई हज़ार वर्ष बीत गये। इस लंबे समय के इतिहास से पता लगता है कि इस बीच में बड़ी बड़ी क्रान्तियाँ हुई, परिवर्तन हुए, बड़े बड़े युगप्रवर्तकों का जन्म हुआ, जिन्हों ने समाज को इधर-उधर से हटाकर केन्द्र-स्थान मे लाकर रखने का भागीरथ प्रयत्न किया परन्तु खेल के मैदान में इधर-उधर घूमने-फिरनेवाली फुटबॉल के समान समाज अपने केन्द्रस्थल में कभी नही टिका। बुद्ध ने कायक्लेश और सुखभोग इन दोनों चरम पंथों को घातक समझकर मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया, परन्तु आगे चलकर उन के इस सुवर्ण सिद्धांत का भी दुरुपयोग हुआ और बौद्ध भिक्षुओं में काफ़ी शिथिलाचार बढ़ गया[१०५]।

---

[१०४] **कल्पसूत्र ५.१२२–८**

[१०५] **बौद्ध भिक्षुओं का उपहास करते हुए जैन लेखकों ने लिखा है—**

**मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया।**
**भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे॥**
**द्राक्षाखंडं शर्करा चार्धरात्रे।**
**मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥**

**अर्थात् मृदु शय्या, सुबह उठकर पेय ग्रहण करना, मध्याह्न में भात**

महावीर के सिद्धांतों के विषय में भी यही हुआ। उन के अहिंसा, संयम, तप आदि के कल्याणकारी सिद्धांतों की मनोनीत व्याख्यायें की गई और उन का दुरुपयोग किया जाने लगा। अहिंसा और दया के नाम पर छोटे छोटे जीवों की ही रक्षा को परम धर्म माना जाने लगा, तप और त्याग के नाम पर शुष्क क्रिया-काण्ड और बाह्याडंबर की पूजा होने लगी; छूआछूत घुस गई तथा अपने आप को भिन्न भिन्न सम्प्रदाय, गच्छ, जाति आदि में विभक्तकर हमने महावीर की संघ-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर डाला। जिस महावीर के धर्म ने समाज और लोक को मार्ग-प्रदर्शन करके जनता का असाधारण कल्याण किया था, वह धर्म अपने उद्देश्य से च्युत होकर निष्क्रिय बन गया !

# १६ उपसंहार

मानना होगा कि हमारे अधःपतन का कारण हुआ हमारे देश की आपसी फूट और राष्ट्रीयता की भावना का अभाव। हमारी संकुचित वृत्ति के कारण हमारा धर्म समष्टिगत न रहकर व्यक्ति-परक बन गया, दीर्घ-दृष्टि उस में से विलुप्त हो गई, इस लोक की चर्चा की ओर से उपेक्षित होकर हम परलोक की चर्चा में लग गये, स्वदोष-दर्शन से विमुख होकर हम परदोष-दर्शन करने में अपनी शक्ति का अपव्यय करने लगे, पुरानी संस्कृति, पुरानी परंपरा में हम दोष निकालते चले गये, परन्तु हम ने उसे देश, काल के अनुसार नया रूप देकर उस का विकास नहीं किया। परि-णाम यह हुआ कि हम अपनी स्वतंत्रता खो बैठे और आज तो सदियों की गुलामी के कारण हम अपनी सर्वतोमुखी संस्कृति और सभ्यता को भुला-कर दुनिया की घुड़दौड़ में अपने को बहुत पिछड़ा हुआ पाते हैं। आज हम देखते हैं हमारी कोई संस्कृति नहीं रही, हमारे कला-कौशल और विज्ञान

---

**खाना, अपराह्न में फिर कुछ पीना, आधी रात में द्राक्ष और शक्कर खाना, इस प्रकार शाक्यपुत्र ने मोक्ष का दर्शन किया**

का दिवाला निकल गया, सहृदयता और प्रेम ईर्ष्या और द्वेष में परिणत हो गया, विदेशी संस्कृति, विदेशी आचार-विचार, विदेशी वेश-भूषा यहाँ तक कि विदेशी भाषा का अधिपतित्व हमारे दिल और दिमाग़ों पर छा गया। फल यह हुआ कि हमारा भारतीय समाज दिन पर दिन अधःपतन की ओर अग्रसर होता गया। आज हमारे समाज में कितनी विषमता फैल गई है! जो भारत भूमि शस्य-श्यामला कही जाती थी, जो धन-धान्य से सदा परिपूर्ण रहती थी और जहाँ भिक्षुक लोग दरवाज़े से ख़ाली हाथ लौटकर नही जाते थे, वहाँ आज अन्न और वस्त्र पैदा करनेवाले किसान और मज़दूरों को भरपेट खाने को नसीब नही होता, उन की माँ-बहनों को तन ढकने को कपड़ा मयस्सर नही होता! मशीनों और कल-कारख़ानों के इस युग मे भारतीय जनता का जितना शोषण हुआ उतना भारत के इतिहास में आज तक कभी नही हुआ! दिन भर जी-तोड़ परिश्रम करने के बाद भी हमारे मज़दूर जो आज भूखे-नंगे रहते हैं, क्षय, दमा आदि भीषण रोगों से पीड़ित रहते हैं, उस का एकमात्र कारण है हमारी समाज की दूषित रचना। एक ओर माल की दर घटाने के लिये माल के जहाज़ के जहाज़ समुद्र में डुबो दिये जाते हैं, दूसरी ओर लोग दाने दाने से तरसते हैं! आज ऐसी भीषण परिस्थिति हो गई है कि पर्याप्त अन्न और वस्त्र होते हुए भी हम उस का उपभोग नहीं कर सकते। एक ओर धनिक-कुबेरों के कोष भरते चले जा रहे हैं और दूसरी ओर प्रजा का शोषण होता चला जा रहा है। 'सोने' के बंगाल में लाखों माई के लाल भूख से तड़प तड़पकर मर गये, कितनी ही रमणियों ने वस्त्र के अभाव में लज्जा के कारण आत्म-हत्या कर डाली और कितनी ही भद्र रमणियों को पेट पालने के निमित्त वेश्यावृत्ति करने के लिये उतारू होना पड़ा, जिस के फलस्वरूप आज बंगाल में काले, गोरे और भूरे रंग के वर्णसंकर शिशुओं का जन्म हो रहा है! इन सब का प्रधान कारण है हमारी परतंत्रता, हमारी गुटबन्दी, हमारी फूट, हमारी स्वार्थ-लिप्सा और चरित्रबल की हीनता।

इस परिस्थिति को दूर करने का एक ही उपाय है, और वह है अहिंसा, तप, और त्याग के सिद्धांतों का पुनः प्रचार—मनोबल और चरित्र का संगठन। तपस्वी महावीर ने बताया था कि सच्ची अहिंसा है दीन-दुखियों की, शोषितों की सेवा में और उन के दुख में हाथ बटाने में, तथा सच्चा तप और त्याग है उन के उद्धार के लिये अपने आप को खपा देने में और अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने मे। अपने दीन दुखी भाइयों को हमें बताना होगा कि आप लोग भी मनुष्य हैं, आप को भी जीने का और सुख-शान्ति से रहने का अधिकार है; जब आप अपनी सारी शक्ति लगाकर जी-तोड़ मेहनत करते हैं तो आप को क्यों भरपेट खाना नहीं मिलता? क्यों आप की यह दीन-हीन दशा है? रूस की क्रान्ति इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि मज़दूर और किसानों में कितनी महान् शक्ति है, और वे अपनी संगठित शक्ति द्वारा देश की किस प्रकार कायापलट कर सकते है। हम भी मनुष्य हैं, फिर हम क्यों आगे नही बढ़ सकते? परन्तु इस के लिये हमें घोर तप और त्याग करना पड़ेगा, बलिदान देना पड़ेगा और जनसमाज में जागृति पैदा करनी होगी। आज हमारी सब से महान् समस्या है राजनैतिक समस्या, इस का हल हुए बिना हम एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकते। यह समस्या हल होने के बाद ही हम अपने कला, कौशल, विज्ञान तथा उद्योग-धंधों की वृद्धि कर सकेंगे, अपनी संस्कृति और सभ्यता को देश-विदेशों में फैला सकेंगे, अपरिग्रह और अहिंसा के सिद्धांतों का प्रचार कर सकेंगे कि शोषणवृत्ति का त्याग करने से तथा **'जीओ और जीने दो'** के सिद्धांत को अमल में लाने से ही संसार में सुख और शान्ति की व्यवस्था क़ायम रह सकेगी। बाइबिल में एक कहानी आती है—एक बार ईसामसीह ने किसी धनाढ्य पुरुष को उपदेश देते हुए कहा कि यदि तुझे अपने जीवन में प्रवेश करना हो तो तू हिंसा करना छोड़ दे, परदारगमन करना छोड़ दे, चोरी मत कर, झूठ मत बोल, माता-पिता का आदर कर और अपने पड़ौसियों से प्रेम रख। इस पर उस

पुरुष ने उत्तर दिया, "हे प्रभो ! इन नियमों का पालन तो मै बचपन से करता आया हूँ।" इस पर ईसामसीह ने उत्तर दिया कि अच्छा, यदि तू निर्दोष होना चाहे तो जा अपनी सब संपत्ति बेचकर उस से जो द्रव्य प्राप्त हो उसे ग़रीबों को बांट दे—ऐसा करने से तुझे दिव्य ख़ज़ाने की प्राप्ति होगी, उस के बाद तू फिर मेरा अनुयायी बनना। कितना उच्च उपदेश है ! इसी परम त्याग की शिक्षा हमें महात्मा महावीर ने दी थी। उस महात्मा के उपदेश हमारे सामने हैं, हम चाहें तो उन्हें अपने जीवन में उतारकर दुनिया की काया पलट कर सकते हैं। परन्तु यह काम सहज नहीं है। उस के लिये हमें अपना हृदय विशाल बनाना होगा, हमें अपने आपको मनुष्य समझना पड़ेगा, हम ने जो छोटे-छोटे संकीर्ण दायरे बना रक्खे हैं उन से ऊपर उठना होगा और उस के लिये घोर पुरुषार्थ करना होगा। महाकवि रवीन्द्र के शब्दों में, अपनी माँ की गोद से निकलकर हमें देश-देशान्तर घूमना पड़ेगा, वहाँ अपने योग्य स्थान की खोज करनी पड़ेगी, पद-पद पर छोटी छोटी अटकानेवाली रस्सियों ने हमें बाँधकर जो 'भलामानुस' बना रक्खा है, उन्हे तोड़ना पड़ेगा, अपने प्राणों पर खेलकर, दु:ख सहकर अच्छे और बुरे लोगों के साथ संग्राम करना होगा, गृह और लक्ष्मी का परित्यागकर हमें कूच कर देना पड़ेगा, तथा पुण्य-पाप, सुख-दुख और पतन-उत्थान में हमें मनुष्य बनना होगा, तभी जाकर हम अपने ध्येय तक पहुँच सकेंगे।[१०६]

---

१०६ बंगमाता

**पुन्य पापे दुःखे सुखे पतने उत्थाने**
**मानुष हइते दाओ तोमार सन्ताने**
**हे स्नेहार्त बंगभूमि ! तव गृहक्रोडे**
**चिरशि करे आर राखियो ना धरे।**
**देशदेशांतर माझे जार जेथा स्थान**
**खूँजिया लइते दाओ करिया सन्धान**

# महावीर-वचनामृत

**१ सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा**
**पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं।**

(आचारांग २.३.८१)

**अर्थ**—समस्त जीवों को अपना अपना जीवन प्रिय है, सुख प्रिय है, वे दुख नहीं चाहते, वध नहीं चाहते, सब जीने की इच्छा करते हैं (अतएव सब जीवों की रक्षा करनी चाहिये)।

**२ सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।**
**तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥**

(दशवैकालिक ६.११)

**अर्थ**—सब जीव जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता, अतएव निर्ग्रन्थ मुनि भयंकर प्राणिवध का परित्याग करते हैं।

**३ अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।**
**हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए॥**

(दशवैकालिक ६.१२)

---

**पदे पदे छोटो छोटो निषेधेर डोरे**
**बेंधे बेंधे राखियो ना भालो छेले करे**
**प्रान दिये दुःख सये, आपनार हाते**
**संग्राम करिते दाओ भालमन्द साथे**
**शीर्ण शान्त साधु तव पुत्रदेर धरे**
**दाओ सबे गृहत्याग लक्ष्मी छाडा करे**
**सात कोटि सन्ताने रे, हे मुग्ध जननी**
**रेखे छे बंगाली करे, मानूष कर नि॥**

**अर्थ**—अपने लिये अथवा दूसरों के लिये, क्रोध से अथवा भय से, दूसरे को पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न स्वयं बोलना चाहिये और न दूसरों से बुलवाना चाहिये।

**४ न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।**
**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥**

(दशवैकालिक ६.२१)

**अर्थ**—संरक्षक ज्ञातृपुत्र महावीर ने वस्त्र आदि पदार्थों को परिग्रह नहीं कहा, वास्तविक परिग्रह है मूर्च्छा—आसक्ति, यह महर्षि का वचन है।

**५ जे य कंते पिए भोगे, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वई।**
**साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई॥**
**६ वत्थगन्धमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।**
**अच्छन्दा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चई॥**

(दशवैकालिक २.१,२)

**अर्थ**—जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी उन की ओर से पीठ फेर लेता है, सामने आये हुए भोगों का परित्याग कर देता है, वही त्यागी कहलाता है। वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री, शयन आदि वस्तुओं का जो परवशता के कारण उपभोग नहीं करता, उसे त्यागी नहीं कहते।

**७ वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,**
**इमम्मि लोए अदुवा परत्थ।**
**दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे**
**नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव॥**

(उत्तराध्ययन ४.५)

**अर्थ**—प्रमादी पुरुष धन द्वारा न इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है, न परलोक में। फिर भी धन के असीम मोह से, जैसे दीपक के बुझ

जाने पर मनुष्य मार्ग को ठीक-ठीक नहीं देख सकता, उसी प्रकार प्रमादी पुरुष न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखता।

**८ उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।**
**मायामज्जवभावेण, लोभं संतोसम्रो जिणे ॥**

(दशवैकालिक ८.३९)

**अर्थ**—शान्ति से क्रोध को जीते, नम्रता से अभिमान को जीते, सरलता से माया को जीते, और सन्तोष से लोभ को जीते।

**९ अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।**
**अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ व ॥**

(उत्तराध्ययन १.१५)

**अर्थ**—सर्वप्रथम अपने आप का दमन करना चाहिए, यही सब से कठिन काम है; अपने आप को दमन करनेवाला इस लोक में तथा परलोक में सुखी होता है।

**१० छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं,**
**आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।**
**पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्ते,**
**तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥**

(उत्तराध्ययन ४.८)

**अर्थ**—जैसे सधा हुआ कवचधारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार मुनि दीर्घ काल तक अप्रमत्तरूप से संयम का पालन करता हुआ शीघ्र ही मोक्ष पाता है।

**११ खिप्पं ण सक्केइ विवेगमेउं,**
**तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।**

**समिच्च लोयं समया महेसी,**
**आयाणुरक्खी चरमप्पमत्ते ॥**

(उत्तराध्ययन ४.१०)

**अर्थ**—विवेक कुछ झटपट नहीं प्राप्त किया जाता, उस के लिये कठोर साधना की आवश्यकता है। अतएव महर्षि जन आलस्य त्यागकर, कामभोगों का परित्यागकर, संसार का ठीक-ठीक स्वरूप समझकर, आत्मा की रक्षा करते हुए अप्रमादपूर्वक आचरण करते हैं।

**१२ उवउज्झिय मित्तबंधवं, विउलं चेव धणोहसंचयं।**
**मा तं विइयं गवेसए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥**

(उत्तराध्ययन १०.३०)

**अर्थ**—एक बार विपुल धनराशि तथा मित्र-बान्धवों का त्यागकर फिर उन की ओर मुँह मोड़कर मत देख। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

**१३ से सुपडिबद्धं सूवणीयं ति नच्चा पुरिसा परमचक्खू विपरिक्कमा, एएसु चेव बंभचेरं ति बेमि, से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे—बंधपमुक्खो अज्झत्थेव।**

(आचारांग ५.२.१५१)

**अर्थ**—मैंने सुना है, अनुभव किया है कि बन्धन से मुक्त होना यह अपने हाथ में है, अतएव हे परमचक्षुमान् पुरुष ! ज्ञानी पुरुषों से ज्ञान प्राप्त करके, तू पराक्रम कर; इसी का नाम ब्रह्मचर्य है, यह मैं कहता हूँ।

**१४ चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं**
**एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं**

(उत्तराध्ययन ५.२१)

**अर्थ**—मृगचर्म धारण करना, नग्न रहना, जटा बढ़ा लेना, संघाटिका पहनना और मुंडन करा लेना ये सब बातें दुःशील भिक्षु की रक्षा नहीं करते।

**१५ मासे मासे तु जो बाले, कुसग्गेणं तु भुंजए।**
**न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥**

**अर्थ**—यदि अज्ञानी पुरुष महीने-महीने का तप करे और कुशा की नोक से भोजन करे, तो भी वह सत्पुरुषों के बताये हुए धर्म के सोलहवें हिस्से को भी नहीं पहुँच सकता।

**१६ न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।**
**न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण ण तावसो॥**
**१७ समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।**
**नाणेण मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥**
**१८ कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।**
**वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥**

(उत्तराध्ययन २९-३१)

**अर्थ**—सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नही होता, 'ओम्' का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में वास करने से कोई मुनि नहीं कहलाता, और कुशा के बने वस्त्र पहनने से कोई तपस्वी नही होता। समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है, तथा तप से तपस्वी होता है। मनुष्य अपने कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है।

**१९ जइ वि य णगिणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमंतसो।**
**जे इय मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भाय णंतसो॥**

(सूत्रकृतांग २.१.९)

**अर्थ**—भले ही कोई नग्न रहे या महीने महीने में भोजन करे, परन्तु यदि वह मायायुक्त है तो उसे बार बार जन्म लेना पड़ेगा।

**२० तेसिं पि न तवो सुद्धो निक्खंता जे महाकुला।**
**जं ने वन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए॥**

(सूत्रकृतांग ८.२४)

**अर्थ**—महान् कुल मे उत्पन्न होकर संन्यास ले लेने से तप नहीं हो जाता; असली तप वह है जिसे दूसरा कोई जानता नही तथा जो कीर्त्ति की इच्छा से किया नही जाता।

**२१ न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,**
**न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।**
**मयाणि सव्वाणि विवज्जंयतो,**
**धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू॥**

(दशवैकालिक १०.१९)

**अर्थ**—जो जाति का अभिमान नहीं करता, रूप का अभिमान नहीं करता, लाभ का अभिमान नहीं करता, जो ज्ञान का अभिमान नहीं करता; जिस ने सब प्रकार के मद छोड़ दिये हैं और जो धर्मध्यान में रत है, वही भिक्षु है।

**२२ पासंडियलिंगाणि गिहिलिंगाणि य बहुप्पयाराणि।**
**धित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति॥**

**२३ ण वि होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।**
**लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंति॥**

(समयसार ४१०-१)

**अर्थ**—मूर्ख लोग अनेक प्रकार के पाखंडी अथवा गृहस्थों के बाह्य लिंग को मोक्ष का मार्ग बताते हैं, परन्तु बाह्य वेश से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। अर्हन्त बाह्य लिंग का त्यागकर शरीर में निर्मम होकर दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सेवन करते हैं उसी से मोक्ष मिलता है।